

# पूर्वों द य

[ पीलिया सीर्कातमः नारूपः ]

नेणक जैनेन्द्रहुमार

श्री पूर्वो दय प्रकाश मा विक्री प्रकाशक दिलीपकुमार श्री पूर्वोदय प्रकाशन दरियागंज्यादिह्ली

### [ सर्वाधिकार सुरच्चित ]

प्रथम संस्करणः १६४० मृल्यः चार रुपये

> सुदक-रामाधार नया हिन्दुस्तान प्रेस चाँदनी चौक, दिझीः

#### प्रस्तावना

श्रपने इन कतिपय लेखों के संग्रह को मैंके 'प्रवेदिय' नाम दिया है। यही नाम पुस्तक के प्रकीशकों ने अपने लिए स्क्रीकार किया है। पूर्वीदय को चाहे तो एशिया का जागरण समभा लिया जाय। पर सही श्राशय वह नहीं है। एशिया के जागरण में ध्वनि राजनीतिक और ऐहिक है। पस्तक का पूर्वोदय सर्वथा ब्रात्मिक है। उसका ब्राशय है उस जीवन-नीति ब्रौर जीवन-मृत्यों का उदय जिनका निषेध पश्चिम के देशों की श्राधनिक सशस्त्र उन्नति है। उन मूल्यों के उदय के साथ उस उन्नति की चमक खों जायगी श्रीर पूरव के लोग, जो पिछड़े समभे जाते हैं, उठते दिखाई देंगे। गांधी वही दृष्टि श्रीर वही क्रांति हमें दे गए हैं। उस क्रांति में पश्चिम का भी पतन नहीं है, केवल ठोकर खाकर उसके लिए आत्मा-विष्कार का श्रवसर है। दूसरे शब्दों में यह पूर्वोदय सर्वोदय का प्रथम चरण है। मानव-परिवार का बढ़ा भाग पूरव में बसता है। मानव-व्यक्ति की त्रावज्ञा का विज्ञान कही फला-फूला हो, मानव-सम्मान की संस्कृति को इधर से उठना है। सन्देह की श्रवकाश नहीं कि व्यक्तित्व की सम्भावनाश्चों का सम्मान करने वाली नीति के हाथ ही मानव जाति का भविष्य हो सकता है। जो एक-पर-एक युद्ध उपजाती गई श्रीर मनुष्य को ई धन मानकर उसमें मोंकती गई है—उस विकृति के चंगल में श्रव श्रिधिक काल मानव फँसा नहीं रह पायगा। वह प्रतिनिधि भानव श्रब इस घड़ी भी आंख खोल रहा श्रीर श्रपने प्रकृत स्वास्थ्य में लौट श्राना चाह रहा है। निश्चय ही इसके लिये वह पूरव की श्रोर देख रहा है।

७, दरियागंज } दिस्की }

—जैनेन्द्रकुमार

### प्रकाशकीय स्चना

श्री जैनेन्द्रकुमार के विचारों की मौतिकता, मार्मिकता श्रीर वेगशीलता के विषय में कुछ कहना हमारे लिए श्रनावश्यक है। इधर के उनके लेखों, भाषणों श्रीर प्रश्नोत्तरों के संकलन क्रमश: प्रकाशित करने की हमने योजना की है। सामग्री का निर्वाचन एवं वर्गीकरण सांस्कृतिक साहित्यिक, दाशैनिक श्रीर सामियक, इस प्रकार चार खपडों के श्रन्तगैत किया जा रहा है। प्रश्नोत्तरों को श्रलग से छापा जायगा। यह 'प्वोंदय' पुस्तक उस विचार-वीथि का प्रथम सांस्कृतिक संकलन है। शेष संग्रह भी प्रेस में दिये जा रहे हैं श्रीर वे जल्दी प्रकाश में श्रायेंगे।

--- ब्यवस्थापक

# पूर्वोदय

## विषयानुकम

8	सर्वोदय		१—४२
	१. गांधी नीति : सर्वोदय	***	
	२. सर्वोदय की नीति	•••	4
	३. सर्वोदयः वर्तमान घ्रोर भविष्य	***	9 4
	<b>४.</b> सर्वोदय	•••	२७
	४. प्र्वोदय		3.5
2	गांधी जी		४३१३२
	१. निपट मानव गांधी	***	81
	२. संयुक्त मानव	***	**
	३. गांघी जी का अखवड योग	***	दर
	४. गांधी-नीति	***	9 1
	<ol> <li>गांधी श्रीर 'विश्व-व्यवस्था</li> </ol>	***	± W
	६. खगर गांधी जी होते ?	***	# 3
	७. गांधीवाद का भविष्य	***	305
	८. नीति या राजनीति ?	***	30€
	६. गांधी धर्म श्रीर कर्मवाद	***	155
	१०. गांधी जी श्रीर हमारी राष्ट्रीयता	***	355
३	<b>श्र</b> हिंसा		१३३१४४
	१. श्रहिंसा का बल	***	१३१
	२. श्रहिंसा और मुक्ति	***	180
	३. श्रिहंसक श्रारम्भ	***	180
8	संस्कृति		644680
	१. संस्कृति की वात	***	120
	२. संस्कृति चौर विकृति	***	163

	३. संस्कृति श्रीर संकट	•••	१७२
	४. रोटी का मोर्चा और संस्कृति	•••	१८२
Ä	शान्ति : युद्ध		१६१२२८
	३. शान्ति श्रीर युद्	•••	983
	२. युद्ध की जगह शान्ति का उद्योग	•••	२०४
	३. युद्ध और भारतीयता	•••	२१३
	४. तोप और इम	***	१२०
Ę	अपरिग्रह		२२६—-२४६
	१. सब छोड़ी	***	२३ १
	२, वि्ग≉वरत्व	***	२३८
	३. अपरिप्रद्व और द्रस्टीशिष	****	२४६
9	स्फुट		₹¥७—₹ <b>८</b> ०
	१. भारतीय जनतन्त्र	***	२४६
	२. ध्येय नहीं, नित्य कर्त्तब्ब	***	२६=
	३. उपवास और जोकतन्त्र		2 98
	४. निरातंकवाव	444	२ ७ इ

# ः १ः सर्वोदय

## गांधी-नोति : सर्वोदय

गाँधी जी के जाने के चिलिसले में सेग ध्यान नीचे लिखी बातों पर ल्बाता है:—

- (१) इधर उन्होंने मृत्यु को मित्र-रूप में याद किया था।
- (२) प्रार्थना के समय अपने और अन्य के बीच किसी श्रिधिकारी के श्रिधकार को आने की इजाजत नहीं दी थी। कहा था, वहाँ कोई चाहे तो मुक्ते खुले मार सकता है।
- (३) कहा था, ईश्वर उठाना चाहेगा तब कोई इन्तजाम मुभ्ते यहाँ रख नहीं सकेगा । श्रीर
- (४) गोली लगने पर उनके मुँह से हि राम' निकला था, हाथ सबके प्रति प्रणाम में जुड़े थे, श्रौर जैसे किंचित मुस्कराहट से प्रयाण-बेला पर उन्होंने श्रपनी कृतार्थता व्यक्त की थी ।

इन बातों से लगता है कि गांधी जी नहीं पसन्द करते कि लोग इत्या पर श्रीर इत्याकारी पर रुकें श्रीर राम के नाम को श्रीर उसके ध्यान को इत्या-जैसी तुच्छ घटना पर कुर्बान कर दें। सदा उन्होंने कहा कि ईश्वर की मर्जी के बिना पत्ता भी नहीं हिलता। गांधी जी को मानना है तो इम यह भी मान लें कि ईश्वर की ऐसी ही इच्छा रही होगी।

गाँधी जी के शब्दों को हम याद करें। उन्होंने कहा था, जुराई की हस्ती नहीं है। जुराई अपने आप में टिक नहीं सकती। टिकने को उसे सहारा चाहिये। यह हत्या निश्चय जुराई है। इत्यारे का नाम गोंडसे कहते हैं। उस गोडसे को जरूर कुछ सहारा था, नहीं तो वह काम उससे नहीं बनता। जरूर उसने माना कि वह कुछ बढ़िया काम कर रहा है, श्रीर उसे बड़ाई मिलेगी। उसे वहादुर समका श्रीर कहा जायेगा। इस महारे पर ही उस पाप को बढ़ने श्रीर चढ़ने की हिम्मत हुई। नहीं तो पाप कातर श्रीर स्वयं में मुदा होना है।

सवाल है कि क्या हम श्रीर श्राप उस गोडसे के काम के लिए सहारा रहे ? यानी गॉधीजी के जाने पर जा तिनक भी चिन्तित श्रीर विह्वल हैं, उन्हें गोडसे नामधारी की तरफ नहीं, श्रपने दिल के श्रन्दर देखना है कि उसके काम को क्या उनका भी सहारा नहीं रहा ? गोडसे हम-श्राप से श्रलग नहीं है। हम श्राप उसके इस काम से, या वैसे दूसरे कामों से श्रपने को श्रलग कर लेते हैं, श्रपना सहारा वहाँ से खींच लेते हैं, तो निश्चय है कि यैसे काम श्रीर उन कामों के करनेवाले नहीं रहनेवाले हैं।

सरकार घर-पकड़ कर रही है। मरांसा है, वह अपने भरसक करने में कसर न उटा रखेगी। पर बेचारी सरकार क्या चीज है ? आगाखों ने सच तो लिखा कि गाँधी जी उस दिन, उस हालत, के लिए जीते थे जब सरकार रहेगी ही नहीं, इतनी फालत् वह चीज हो जायेगी। यानी सरकार केचारी का बस थोड़ा है। वह तो बेजान मशीन है। पुलिस, अदालत और जेल से आगे उसकी पहुँच नहीं है। तभी तो गाँधी जी सरकार न थे, न कभी होनेवाले थे। यानी कांग्रेस और कांग्रेसी हकूमत राष्ट्रीय स्थयं-सेवक संघ को एक भागटे में नाबूद करदे, तो भी चलने वाला नहीं है। वह तो सरकारी काम है, असल काम दूसरा है, और वह फिर भी बाकी रहता है।

एक मत या दल दूसरे दल की दबादे या मिटा दे, यह बन सकता है; लेकिन सिर्फ ऊपरी श्राँखों के लिए। ऊपरी ये श्राँखों सदा घोखा देती श्रीर घोखा खाती रही हैं। ऐसे हिंसा को हिंसा से काटने की कोशिश इकी नहीं है। लेकिन उससे गाँठ भी नहीं कटी है, ममेला श्रीर उसमता ही गया है।

यह भमेला हिन्दुस्तान का ही एक खास मगला नहीं है । दुनिया में भी वहीं है । इससे गाँधी का प्रयोग हिन्दुस्तान में, श्रीर उसके द्वारा, हुआ सही, पर वह सारी तुनिया के लिए था । असल में तो सत्व और अहिंसा का प्रयोग गाँधी ने अपने प्रति निर्मम होकर और अपने को भगवान का बंदी बनाकर किया । जागते-सोते, उठते-बैठते, हर घड़ी अपना पहरा वह दिये रहे। जरा भी अपने को खिराकने नहीं दिया और उनके अन्दर और बाहर के शैतान को हर पल उनसे ललकार और चुनौती गिलती रही । भारत का राष्ट्रपट उनके सत्य और अहिंसा के प्रयोग का माध्यम मात्र बना । गाँधी राष्ट्र या राष्ट्रीयता के नहीं थे, राष्ट्र और राष्ट्रीयता उनसे थी । वह तो राम के थे और राजनीति में भी 'राम-राज्य' के लिए ही उनका प्रयत्न रहा । राम-राज्य, यानी इस दल ओर उस दल का नहीं; इस मत या दूसरे मत का नहीं; यह तंत्र या यह तंत्र नहीं; बिल्क प्रेम का राज्य, सबका, पंचायत का राज्य । किसी राजा का नहीं, हर अभिक का राज्य । वह राम-राज्य जो जरूरत पड़ने पर वेहद केन्द्रित भी ही राके, और यो एकदम विकेन्द्रित हो ।

ये प्रयोग संख्या श्रीर भूगोल की दृष्टि से कितने भी सीमित हों, दृतु में सीमित नहीं थे। यानी सारा संसार श्रीर आगामी सारा इतिहास श्रपने लिए उनमें सामग्री श्रीर प्रकाश खोजता श्रीर पाता रहेगा।

हमं, हममें से प्रत्येक को, श्रथने तहें शुद्ध होना है। दुष्ट साधु से श्रालग कव है ? हमलिए जो जितना साधु होगा, वह उतना ही दुष्ट को श्रीर दुष्टता को श्रयने न्दर देखेगा। इसी श्रभ्यास का नाम है श्राहंसा। यही है यह, यही कांति यानी निरंतर श्रात्मशोध, श्रात्मजागरण श्रीर श्रात्माहुति। कारगा, दुष्टता यदि कहीं है, श्रीर दुष्ट कोई है, तो वह तभी है जबिक हमारा उसे सहारा है। ग्रुप रहकर, उरकर, किनारा लेकर हम बुराई से बचते नहीं, उसे निमंत्रण देते हैं। इसलिये स्पष्ट श्रीर नम्र श्रसहयोग या सत्यामह उद्धत बुराई को संहज में परास्त श्रीर धराशायी कर देता हैं। तब देखने में श्राता है कि जिसे बुरा भाना वही श्राच्छा बन जाता है। 'इसंसे' नष्ट कुछ या कोई नहीं होता। विकृति ही विलीन होती है श्रीर संस्कृति की

सहज सम्भावनाएँ तब सब किसी में से खिलती श्रीर जीवन को परिपूर्ण बनाती हैं।

कौन कह सकता है कि दुनिया में कुछ भी या कोई भी एकदम क्यर्थ है! फिर मी एक-दूसरे को क्यर्थ करने की जो चेष्ठाएँ दुनिया में चल रही हैं, श्रीर सम्भावि स्वर्ग को यथार्थ नरक बनाये हुए हैं, सो क्यों! निरुचय ही किसी अमुक को व्यर्थ करने की कोई नई चेष्ठा अनेकानेक सिंदयों में से चले श्राते हुए मानव-विकास को आगे बढ़ानेवाली नहीं हो सकती। उस विकास की साधक नीति तो एक वही हो सकती है जो प्रत्येक को सफल हुआ देखना चाहती है; जो एक की सफलता दूसरे की विफलता में किसी तरह भी देखने को तैयार नहीं है। जो इस तरह सवों-दय में योग देतीं है। उस नीति का नाम है 'गाँधी नीति'। उस नीति की व्याख्या, व्यवस्था, प्रयोग, उदाहरण और चित्र का नाम है 'गाँधी-जीवन' और उस चित्र के सार-भाव को समफने के लिए दो शब्द का सूत्र है, सत्य और अहिंसा।

गाँधी की महिमा तो रूप में श्रनन्त है। उसकी देखे जाइये, गाये जाइये—मला कहीं उठकी थाह है, कहीं श्रन्त है? इसलिए इस विभूतिमय जीवन के ऐश्वर्य में नहीं जाना है। उसकी निपटता को ही जान श्रीर पहचान लेना है। वह है, हर क्षेत्र और हर समय की हर समस्या के लिए सत्य श्रीर श्रष्टिसा में से सामाधान प्राप्त करने की प्रतिज्ञा श्रीर तत्ररता।

कीन नहीं जानता कि दुनिया श्राज ज्वालामुखी के मुँह पर खड़ी है। क्या चिनगारी प्रलय भड़का उठेगी, कोई कह नहीं सकता। ऐसे में गाँधी ने उठ जाने की श्रीर ईश्वर ने उन्हें उठा लेने की जो ठहरायी, श्रास्तिक मानेंगे कि उसमें भी कुछ शुभ ही है। श्रगर सचमुच शुभ है, तो सिवा इसके वह क्या हो सकता है कि इस गहरे शोक के समय भारत, श्रीर उसके द्वारा जगत, उस नीति में श्रदा प्राप्त करे कि जिसकी श्रोर विधाता ने एक श्रयाह श्रभाव इमारे बीच पैदा करके हमारा ध्यान खींचा है।

## सवींदय की नीति

नये समाज के निर्माण की आज चाह है। इस चाह में यह तो आ ही जाता है कि वह समाज बेहतर होगा। नया हो, इतना मर काफी नहीं है। यों तो कभी पुराने से ऐसा जी ऊव जाता है कि कुछ भी नये पर यह ललच उठता है, फिर चाहे पहले से वह बदतर ही साबित हो। आंदोलनों में पक्षनेवालों में ऐसे लोग हो सकते हैं, जिनके पास मौजूदा समाज से असन्तोष ज्यादा है, माबी समाज की कल्पना उतनी नहीं है। केवल असन्तोष की यह प्रेरणा विधायक नहीं होती। वह बनाती कम है, बिगाइती है अधिक। 'नया समाज' कहकर आज की हालत से असन्तोष तो इम जतलाते ही हैं; लेकिन उस असन्तोष के साथ आगामी समाज जो हम लाना चाहते हैं, उसका विचार भी होना जरूरी है। नहीं तो खाली असन्तोष में हम बने को ही गिरायेंगे, उसकी जगह कुछ नया बना नहीं पायेंगे। पुराना ढा देने से नहीं, अभी से नया निर्माण करने लगने से नया समाज बनेगा।

समाज पदार्थ की तरह की चीज नहीं है। वह वेजान नहीं, जानदार है। इसलिए पदार्थ को जिस गणित के विज्ञान के उसलों से हम तोड़ते-जोड़ते हैं, वे क्यों-के-त्यों समाज की रचना में काम नहीं देते। समाज की इकाई आदमी है और आदमी में मन है। इसलिए समाज की रचना का विज्ञान कुछ वूसरे तरीके का होगा। वह मानसिकता से जुड़ा होगा और सबकी नव-रचना बाहर के प्रहार से नहीं हो पायेगी। जैसे सकड़ी को लोहे के स्रोज़ारों से नाप-काटकर हम चीज़ तैयार करते हैं, वैसे समाज के मामले में हमारे पारा लक़ ही श्रलग श्रीर उसको छीलने-काटने-वाले श्रोजार श्रलग नहीं हैं। हम ही श्रोजार हैं श्रीर हम ही वह हैं जिनको गढ़ा जाना है। इस तरह समाज का निर्माण श्रात्म-निर्माण हो जाता है। समाज से हम श्रलग नहीं श्रीर समाज हमसे श्रलग नहीं है। तब कोई भी उस्ल, जो हमारा तो नहीं विल्क समाज का लेखा-जोखा देते हैं, केवल उसका सुधार श्रीर निर्माण करते हैं, इष्ट परिणाम कैसे ला सकेंगे!

चुनांचे काम करनेवालों में दो पातें देखने में श्राती हैं। एक, जो मानते हैं कि सारे माधनों श्रीर सारे स्त्रादिमियों को 'स्टेट' के श्रधीन में पहले एकत्र कर लिया जाय, फिर सब में सम-व्यवस्था श्रीर समान वितरण सहज हो जायगा। बाधा बनने को तब कोई चीज बीच में नई। रह जायगी। ऐसे लोग संगठन बनाते श्रीर राजनीति चलाते श्रीर उपजाते हैं। वे दलों की सृष्टि करते श्रीर उसी भाषा में उन्नति देखते हैं।

दूसरे, जो मानते हैं कि बात ऐसी नहीं है कि सुधारा जानेवाला एक हो थ्रोर सुधारने वाला दूसरा हो। समस्या को यह रूप मिलता है कि बखेड़ा बढ़ जाता है। यानी एक विपम चक पैदा होता है जो कटता नहीं। समस्या चेतन की है, जड़ की नहीं। सो चेतना का संस्कार करना होगा। वह काम सदा अपने से ग्रुरू हो सकता है। वह कल पर भी मोकूफ नहीं, इस घड़ी से ही ग्रुरू हो जाता है। वह कल पर भी मोकूफ नहीं, इस घड़ी से ही ग्रुरू हो जाता है। वे कहते हैं कि खुदी से हम न चलें, बल्कि सेवा की, यानी दूसरे में श्रुपनी सी, मावना रफ्लें; काम वैसे ही श्रोर उसी मावना से करें; ज्यादा हथियाना श्रोर बटोरना न चाहें, कहरी जितना ले लें श्रीर शक्य जितना उपजाते श्रीर बनाते चले जायें। ऐसे एक चलें, थोंडे चलें, श्रीवक चलें तो श्रापही श्राप नया समाज उग चलेगा। उसमें विश्वमता न होगीं; स्पर्धा की जगह वहाँ स्तेह होगीं,

शोपण की जगह सहयोग लेगा श्रीर श्रादमी की शक्ति जो एक दूसरे को पीछे श्रीर नीचे रखने में लगती है, एक-दूसरे को बढ़ाने श्रीर उठाने में काम श्रायगी । तब हम देखेंगे कि श्रादमी की समस्याएँ खुद उन्नित करती जाती हैं। समस्याश्रां को मिटना तो नहीं है। तब तो ज़िन्दमी ही मिट जायगी श्रीर पुरुष का श्रर्थ पुरुषार्थ ही ख़त्म हो जायगा। नहीं, बिल्क समस्याश्रां का धरातल उठेगा श्रीर नीन-तेल-लकड़ी की वे न रह जायंगी। वे सांस्कृतिक श्रीर नैतिक होंगी। तब श्रादमियों की होड़ श्रार्थिक न होकर पारमार्थिक होगी।

भारत की राजनीति को मौका नहीं है कि वह माने कि विना नीति के राज-काज चल सकता है। नीति यानी धर्म-नीति, डिंग्लोमेसी नहीं। नैतिकता को बाद देकर स्वयं विग्रह का राजकारण आगे नहीं बढ़ता। साथ ही गांधीजी से यह भी प्रत्यन्त हो गया है कि अध्यात्म न सिर्फ संसार से विमुख नहीं है; बिल्क संसार के अभाव में वह अधूरा और पीला हो रहता है।

इस तरह यद्यपि ऊपर के दो, भौतिक द्योर नैतिक, दृष्टिकोशों का द्यन्तर गहरा और मौलिक है, फिर भी विवाद की गुंजाइश नहीं रहती। जो नेतना को छोड़कर बाहरी परिस्थित से जूम रहे हैं, ऐसे सांसारिकों से द्याटके स्त्रीर हिलगे बिना सांस्कारिकों का काम चलते रहना जाहिए। चुनाब का स्त्रीर दलबंदी का काम उस प्रकार का ईमान स्त्रीर स्वभाव रखने वाले लोग क्यों न करें ! ज्यादं-से-ज्यादा यही हो सकता है कि कुछ उसको रचनास्मक न मानें। तो ऐसे रचनास्मक विचार के लोग उस दलगत काम से स्रलग रहकर स्त्रपना काम किये जावें तो स्वयं उन दलों का सहयोग उनको मिल सकता है। बल्कि रचनात्मक काम एक ही साथ सब बलों को ताक़त पहुँचानेवाला है। बह तो ज़मीन है जिस पर हर बीज को पड़ना स्त्रीर वहाँ से रस लेना है, नहीं तो वह जड़ न पकड़ पायता।

'रचनात्मक' शब्द इधर बहुत चलता है | जिसको जो करना होता

है, उसी को रचनात्मक कह कर वह पेश करता है। गांधीजी ने जो एक नई भाषा हमें दी, उससे कठिनाई भी कुछ वढ़ी है। ज्यवहार नैतिक शब्दों के सहार चलने लगा है। इस वजह से यहाँ तक कहा जाता है कि जहाँ अन्दर पाप हो, वहाँ मुँह पर धर्म पाओगे; जहाँ भीतर घात हो, वहाँ ऊपर मिठास होगी। यानी आदर्शवाद और नीतिबाद जहाँ है ढकोसला है, ऐसा प्रवाद हो गया है। यह कठिनाई बढ़ तो गई है। कारण, संशय और अविश्वास बढ़ गया है। फिर भी उसे पार करना है, इतने मात्रसे रचनात्मक शब्द और काम से भिंड छुड़ाना नहीं लेना है। रचनात्मक वह जो—

(१) श्रम से पदार्थ की उत्पत्ति या निर्माण करे, श्रीर (२) श्रापस में सहयोग साधे श्रीर उसकी बाधा को इटाये।

दूसरी कोटि का काम भावना श्रीर प्रचार का है । जात-पाँत श्रीर रंग-रीत का भेद, ऊँच-नीच का विचार, अपने-श्रपने धर्म का श्रिममान, ये श्रीर ऐसी वार्ते सहयोग के फैलाव में स्कावट होती है। इसी से ये फिर स्वार्थों के पोषया में सहायक होती हैं। इन्हें गिराना श्रीर जीतना होगा।

पर मूल रचनात्मक है वह जहाँ अस में से पदार्थ फलता है। इसके बिना मावना-प्रचार का काम भी बेजान रहता है, ठोस नहीं हो पाता । प्रेम का प्रचार किसने नहीं किया ! साहित्य ने किया, धर्म ने किया, सब समभ्रदारों ने किया । पर उस प्रेम के नीचे स्वार्थ भी मजे में पलता गया । जिस प्रेम में अपनी और अपने की कुरवानी हो, वह प्रेम तो बिरलों के हाथ श्राया । श्रिधकतर वह भावना में समाकर और स्वकर रह गया, और व्यवहार को श्रष्ट्रता छोड़ गया । नतीजा यहाँ तक कि बनी ही धर्मी दीखने को शेष रहा। यानी, मावना को अम में उतारे बिना बात पूरी बनती नहीं। मावना तक बात व्यक्तिगत रहती है, कर्म में उतारकर ही वह सामाजिक रूप लेती है। मावना एकाकी है, कर्म सहयोगी। मक्त श्रीक न हो तो हो सकता है कि उसकी मिक्त उत्कट दीखे, पर यह मय-बन्ध न काटे। वह श्रसामाजिक भी हो सकती है; कार्या, वह

श्रानुत्पादक ही रहती ह। श्रव व्यक्ति पदार्थ को उपयोग में लाये विना, श्रीर इस तरह उसे चुकाये विना, तो रह नहीं सकता। वह खाता है श्रीर कुछ-न-कुछ रख़ता श्रीर पहनता है। तो पदार्थ उपजाने में भी उसका भाग होना चाहिए। श्रम से छूटकर भक्ति मानो इस कर्त्तंबर से भी छूट जाती है। तब वह नैतिक की जगह शायद कुछ भावक भी हो जाती होगी। भावकता श्रमजाने श्रपने नीचे एक विशेष प्रकार की निर्ममता की घरती बना या बचा छोड़ती है। यहाँ श्रमामाजिकता की जड़ शेष रहती है श्रीर वह कटती नहीं, बल्कि श्रन्दर-ही-श्रम्दर फैलती रहती है। ऐसे व्यक्ति में श्रीर समाज में घोर इन्द्र पैदा हो जाता है। तपस्वी स्वलित होता है श्रीर भक्त मालदार बनता है।

इस प्रकार 'रचनात्मक' में मुख्य सार है यज्ञार्थ किया गया उत्पादक श्रम । उत्पादक का मतलब है बैज्ञानिक । केवल श्रम से नहीं चलेगा । न इतना काफी है कि वह श्रम कुछ तो भी उपजा दे । नहीं, उसमें धैज्ञानिक व्यवसाय-बुद्धि को भी लगाना होगा । तब वह सही मानों में रचनात्मक हो सकेगा।

शौक की तरह आप घरटा चर्ला चला लिया और वह रोज़ मी चलाया, पर स्त का हिसाब नहीं रक्खा, आगे उसके बुनवाने आदि में सापरवादी की तो वह काम मावनात्मक तो हुआ, रचनात्मक पूरा नहीं हुआ। उससे मानसिक सन्तोष कुछ हमको अवश्य होया; पर नये समाज की रचना की नींव नहीं पड़ेगी।

समाज आदिमियों की बहुतायत का नाम नहीं है। उस बहुतायत से तो भीड़ होती है। समाज आपसी सम्बन्धों से बनता है। संख्या और भूगोल में सामाजिकता नहीं है। इसलिए आपसी सम्बन्धों में जितनी गहराई, अँचाई और बनता होगी, उनमें मर्यादा और व्यवस्था होगी, उत्तमा ही समाज विकसित सममा जायगा। यो माता और पुत्र में अन्तर होता है, दोनों किसी सिहाज से बराबर नहीं हो सकते और नहीं

किये जा सकते । श्रांकिक बुद्धि चाह सकती है कि दांनों श्रपने श्रिषकार में बराबर हों; पर माता तब तक तृन नहीं हो सकती जबतक पुत्र को उससे श्रिषक न गिले, न पुत्र तब तक शान्ति पा सकता है, जब तक किमाँ से माँगने श्रीर पाने का, श्रार्थात् छोटे बनने का, श्रिषकार उसके पास सुरिच्चत न हो। परिवार की शाक्ति इसमें नहीं है कि सब में समानता हो। वह तो इसमे है कि उनमें सहज स्नेह हो।

परिवार की यह उपमा भाशुकता की लग सकती है। पर इसी की वैज्ञानिक समभकर न चला जायगा तो हो सकता है कि हमारी सब कीशिशों एक नयापन तो हमे दे दें, पर ऐसा फलित न दीखें कि वह समाज पहले से बेहतर है। बेहतर वह समाज हो ही नहीं सकता जहां पर हरेक की आँख अपने और इसलिए दूसरे के धन पर है। ऐसे समाज में तो विकार सुलगे ही रहेंगे। ऊपर कानृत के जोर से कितनी भी शान्ति और सुरखा हो, भीतर तो लपलपाती जीभें होंगी, जो सदा ही खतरा रहेंगी।

समाज में जा श्रमामाजिक श्रीर विकारी तस्व हैं उनको जहमूल से नष्ट कर दिया जाय तो रोप में श्रामानी के साथ गुक्यवस्था लाई
जा सकेगी—प्रचित मतनाद कुछ इसी लकीर पर सोचते हैं । उनके
दल फिर उसी नीति पर चलते मी हैं। फासिस्ट मानवता का दुरमन है,
एक हाथ से उसका सफाया किया कि बाधा ही सब मिट जायगी। इमी
तरह इम्पीरियिलस्ट, कम्यूनिस्ट, केपीटेलिस्ट श्रादि श्राद्ध शब्द ऊंचे
उठाकर एक विशेष प्रकार की मनोवृत्ति श्रार राज्यनीति चल रही हैं जो
सारे इतिहास में चलती श्राई है। वह इस तरह श्रपनी प्रभुता साधने के
लिए शत्रुता उमारती श्रोर शान्ति के नाम पर गुद्ध मचवाती है।
इसको विशान की भाषा ने इन्द्वात्मक मीतिकबाद विशेषण दिया है, जो
बहुत उपयुक्त है। उस वृत्ति के लिए वहीं यथार्थ तस्व-दर्शन है श्रीर विग्रह
ही मार्ग है। श्रमुक की पराजय की भाषा में वह श्रपनी (जिसको वह
मानवता की कहती है) विजय मानती है।

न्यावहारिक, सांसारिक, श्रांकिक श्रीर बोद्धिक-वैज्ञानिक नीति इसके पार जा भी नहीं सकती । प्रत्यच्च द्वौत उसका चरम सत्य है श्रीर श्रद्धैत यदि उसके लिए है तो केवल माया के रूप में है।

किन्तु एक दूसरी भी नीति है । उसकी कहें 'सर्वोदय'। यानी एक के उदय के लिए दूसरे का अस्त चाहना भूल है । सर्वोदय अध्यात्म की नीति के तौर पर तो मान्य रहे, कर्म की नीति के तौर पर वह असफल हो जायगा—ऐसा अनेक कर्मियों का आग्रह है । फिर भी कुछ की निष्टा है कि कर्म की भी सच्ची नीति वही है । वे उस सब कर्म का इन्कार करने को तैयार हैं, जो सर्वोदय के कोटे पर सही नहीं तुलता । उनका मानना है कि ऐसा कर्म प्रपंच रचता है, बन्धन बढ़ाता है, आजादी नहीं लाता ।

गाँधीजी के बाद स्रभी जमान हुस्रा था, जहाँ कुछ लोगों ने बोपणा की कि ने कमीं हैं, कमी गें रहेंगे; लेकिन उस समस्त कमी में स्रीर उसके जिर्चे उन्हें सर्वोदय को ही सानित करना और साधना है । सर्वोदय-समाज के इस ऐलान में ने सब लोग शामिल थे जो गाँधीजी के जलाए जीदह स्प्रवाले रजनात्मक कार्यकम में लगे रहे हैं । उनका मानना है कि नह काम हिन्द में होता रहा है सही, लेकिन उसमें तो तुनिया के सवाल का भी हल है और दुनिया उसको मानकर और उस पर जलकर ही लड़ाई से छुटकारा पा सकती और शान्ति और उन्नित के लिए खुल सकती है ।

स्पद्धीं पर चलनेवाले समाज में सर्वोदय की श्रीर श्रहिंसा की नीति से राज कैसे चलेगा श्रीर समाज कैसे बनेगा या बदलेगा, यह संकल्प से जिसे समक्त नहीं श्राता, उसे समक्ताना संगव नहीं है। तर्क से श्रद्धा श्रा भी कैसे सकती है ! वह बुद्धि की नहीं, हृदय की चीज है। श्रल्ताह भी एक है श्रीर ईश्वर भी दूसरा नहीं है। फिर भी मतवादी बुद्धि दोनों में एक को नहीं देखती, उनमें भेद देख चलती है श्रीर श्रमवन ठान बैठती है। इसलिए वह जो भाषा पर ठिककर नाम श्रीर नारों के पीछे नहीं चलता, जो सीधा जानता श्रीर सीधा देखता ह, ऐसा हृदय ही उसको पा सकता श्रीर धार सकता है।

गाँधीजी के बाद यह अब खयाली चीज नहीं रह गई ह कि अहिंसा से राजकाज और कामकाज भी चल सकता है। हिन्दुस्तान की आजादी खुद सबूत है कि अहिंसा में बड़ी ताकत है, जो आदिमक होने की वजह से भौतिक तौर पर कम नहीं, ज्यादा ही कारगर है।

वह दर्शन, जो विमह की भाषा से सचाई को खोलता श्रीर लेता है, भ्रमेले को निवटा पाया है, ऐसा कहीं दीखता नहीं है। बल्कि उसे जब मीका मिला तो लड़ाइयाँ ही उससे पैदा हुई है।

दूसरा श्रास्तिक दर्शन है। वह श्रद्धेत में निष्टा रखता है और उससे कभी डिगने को तैयार नहीं। उसका सत्य श्रद्धिंसा है: यानी, यज्ञ, कुरवानी, क्रॉस ।

पहले में से मारना निकलता है। मारने के अन्दर खुद मरने से बचने की चाह छिपी रहती है। वृक्षरा मारे बिना मरने की राह चलता है। यह दुनिया को कुछ उन श्राँखों से देखता है जहाँ वृक्षरे का फलना-फूलना अपना ही मालूम होता है और श्रच्छा लगता है। वृक्षरे की तकलीफ श्रपनी मालूम होती है श्रीर तकलीफ देती है। यह दर्शन दिखाता है कि बालक को पालकर माँ छीजती जाती है श्रीर बूदी होती जाती है सही; लेकिन बालक के बदने के खाथ उसकी खुशी भी बदती जाती है। यह प्रेम की राह है और दुनिया देखे या न देखे, यह प्रेम ही इस दुनिया को जिलाये रख रहा है। यों वेटों-वेटों में या माँ-वेटों में भी क्या कलह नहीं होती ? वह कलह होती ही तब है,जब दोनों के पैरों तले सुइब्बत की जमीन है जिसे वही दुक मूल गये होते हैं।

मुश्किल यह है, श्रीर यह बहुत बड़ा ख़तरा भी है, कि प्रेम जब हृदय की श्रीर भावना की सर्वाई है, तब कर्मेन्द्रियाँ श्रहंकार-जन्य बुद्धि से श्रनुमति लेकर चल पड़ती हैं। कर्म ऐसे धर्म से छूट जाता है। इसिलए सारे रचनात्मक कार्य को बराबर कसते रहना ज़रूरी है कि वह श्रिहिंसा की कसौटी पर सही तो उतर रहा है न | बड़ा फल देनेवाला काम भी जड़ में गलत हो तो फेंक देने लायक है | चर्ला श्रमली श्रिहिंसा है | श्रिहिंसा ही चर्ले में श्रमल न पा रही हो तो क्या वह सिर्फ लकड़ी ही नहीं रह जाता जो चूलहे के काम की है !

देश अभी बँट कर चुका है। हिन्दुस्तान वह रह गया है जो पाकि-स्तान से अलग है। गाँधीजी के नीचे हम क्या सपना लेते आये, क्या क्या सीखते और करते आये थे किया हम न सोचते थे कि हिन्दुस्तान में सब की एक होंगी और दुनिया के एके की ही उससे, यानी हमसे, शुरूआत होगी १ पर मुल्की और कौमी एकता तो नहीं हुई, ऊपर से बँटवारा आ गया। लेकिन सचमुच क्या दिल भी बँट गया है शव तो गाँधी सचमुच ही मर गया और यह भूठ है कि वह अमर है। लेकिन अमर अगर एकता ही नहीं है, एकता की बानी और एकता के काम ही अमर नहीं हैं, तो अमर फिर इस संसार में है क्या १

गाँधीजी कहते रहे कि हक्मतें दो बनी हैं सही; हिन्दुस्तान का दिल एक है। वह दो नहीं हो सकता। कारण, हिन्दुस्तान का दिल वहाँ है, जहाँ इन्सानियत का दिल है। इमेशा से यहाँ अनेक धर्म, जाति और रंग के लोग आते रहे हैं और एक-दूसरे को पहचाना और जानना सीखते रहे हैं। गैर मानकर आये, पर अपने बनकर रह गये हैं। आंखर आपस की हुएमनी और गैरियत कभी तो मिटनी है, नहीं तो दुनिया को बीचन और ख़तम हो रहना है। सब मेद रहते हुए यह हिलमिल कर एक बन जाने की कला का उदय मारत में होता आया है। मनुष्य-जाति के निमित्त जैसे मारत अपने समूचे इतिहास में से इसी प्रयोग को साधता आया है। भारतीय संस्कृति, भारतीय धर्म, अगर कुछ है तो वह इसी महाप्रयोग का वरिपाक फल है। मानो यह भूमि जगत के लिए प्रयोगशाला थी, जहाँ से समन्वय के सूत्र को फलित होना

था। ताकि जब मानवता घोर श्रावश्यकता में हो तब मारत उस परीच्तित प्रयोग को पूरे वैज्ञानिक श्रौर एचित्र रूप में दुनिया को देकर सार्थक हो सके।

सर्वोदय नीति की तरफ सबकी आशा की निगाहें हैं। उन आशाश्रों को उठाने श्रीर पूरा करने के लिये विश्वासियों को श्रपने कंघे तैयार कर लेने हैं।



#### : ३ :

## सर्वोदयः वर्तमान श्रीर भविष्य

प्रश्न—राज के सर्वोदय-समाज-सम्मेलन के बारे में श्रापकी क्या राय है !

उत्तर—मैं उसे सफल हुन्ना समभता हूँ। प्रस्ताव एक न्नाया न्नीर विनोबा के सुभाव पर प्रस्तावक ने सद्भावना के साथ उसे बापस र्खांच लिया। यह सफलता का ही प्रमागा है।

प्रश्न—श्रापका निर्देश शायद श्री गुलजारीलाल नंदा के प्रस्ताय की स्रोर है। उसके बारे में श्रापको क्या कहना है ?

उत्तर—प्रस्ताव श्रपने में क्या बुरा था, पर बात की गहराई तक शायद वह नहीं जाता था। भूमिका में एकाध वाक्य सरकार के लिए श्रालोचनात्मक थे जो गैरजरूरी माने जा सकते थे। काला-बाजार की बुराई पर उसमें जोर था। जिसे उजला माना जाय, उस बाजार में श्रोर कालेबाजार में विभाजक-रेखा सरकारी कानून की ही है न ? नैतिक कानून से देखें तो खुला बाजार भी कोई खास उजला नहीं रहता। बह भी खासा काला समभा जा सकता है। श्रमल में श्राज की अर्थनीति ही श्रोंधी है। बह नफे के लिहाज से चलती है श्रोर सरकार खुद एक स्था-पारिक संस्था बन जाती है। सर्वोदय माननेवाले कालेबाजार की बात कहकर उजले बाजार को श्रस्त्वता छोड़े श्रीर उसको एक तरह श्रपनी सही मुहर दे दें, इसे मैं तो अपनी तरफ से टीक नहीं मानूँगा। हुकूमत का काम शायद अपने कानून की रच्चा पर कक जाता है। सेवक का काम उससे आगे जाता है। तीन हजार या अधिक तनक्वाह पानेवाले की पीठ टांक कर, वाजिब से ज्यादा दाम देकर घासलेट की बत्ती घर में जलाकर काम करनेवाले दीन को लताइने में कानून की सेवा हो जाती हो, इन्सान की तो सेवा विशेप नहीं होती। इस दृष्टि से प्रस्ताव कुछ गहरा जाता था, ऐसा मेर मन को आश्वासन नहीं है। इससे मेरे मन में उसका समर्थन भी न था। यों अपने में प्रस्ताव निर्दोप था। लेकिन अन्त में तो वह वापस खिंच ही गया। इसलिए उसकी चर्चा क्या १ ध्यान में यह रखना है कि कम की दृष्टि एक है, धर्म की दृष्टि कुछ दूसरी है। सवोंदय-समाज में दोनों तरह के लोग हैं। विनोबा की दृष्टि कार्मिक से अधिक धार्मिक है और यह सवोंदय-समाज के मविष्य के लिए अच्छा ही है।

प्रश्न--- उक्त प्रस्ताव से सम्मेलन में काफी गर्मी पैदा हो गई थी। उसे वापस लेने पर सबको लगा कि सम्मेलन ने कोई विधायक कार्यक्रम उन्हें नहीं दिया। है न ?

उत्तर—हाँ, लगा तो । श्राखिर लगभग दो दिन जिस बात को बीच में लेकर बीते, उसको कुछ मूर्त करनेवाला प्रस्ताव ही बीचं से खिंच गया, तो लोगों को श्रवश्य लगा होगा कि जैसे वे श्रधर में रह गए । बात वह दुखती रग की थी, जैसे उस रग को खुला श्रीर दुखता ही छोड़ दिया गया। कोई-कोई यह भाव लेकर गये हों कि यहाँ वातें बड़ी हैं, लेकिन काम खिपर है, तो मुम्ने बहुत विस्मय न होगा। जानता हूँ कि वस्तुस्थित यह नहीं है। प्रस्ताव पास न करने की दृष्टि के पीछे जबरदस्त वेग पड़ा हुश्रा है। भीतर का वह वेग ( बाहनेमिज्म ) ऊपर उभग नहीं दीख पड़ा, इससे हम भ्रम में न पड़ें। श्रसल में सर्वोदय का काम सबको श्रपनी-श्रपनी श्रातमा, इस तरह सर्वात्मा, की तरफ श्राममुख कर दैना है। किसी श्रमुक प्रस्ताव की तरफ सबको खींचने की कोशिश से वह नहीं होगा। इस

स्रात्मालोचन की तीव्रता में से प्रचण्ड शक्ति उत्पन्न हो स्रानेवाली है। स्रात्मशोध की यह प्रक्रिया ऊपर से गूँगी हो, वाचा में से जब उसके फूटने का समय स्रायगा स्रोर कर्म में जब वह जोगी, तब जान पड़ेगा कि वह स्रमोख है। फिर भी श्राधवेशन के व्यवस्थापकों की कर्म-कुशलता की त्रृटि ही में मानता हूँ कि लोगों को एक स्रानश्चय के भाव में विद्या होने दिया गया। उसी संध्या-प्रार्थना के समय विनोबा ने जो प्रवचन किया; वही यदि स्राधवेशन में हुसा होता, तो लोग स्रमाव नहीं, एक बिजली विकर ज्यते। सून्यता की जगह स्रागे के लिए उत्ताह स्रोर स्कृति उनमें भर गई होती। पर हम माने कि सेवक उतना शब्द की स्रपेद्धा में नहीं है, यह स्राग्मोनमुख है स्रार वाहर के स्रमाव को स्रपनी क्षद्धा से भर देने के लिए कटिबद्ध है।

प्रश्न—श्चात्मशोध की श्चापकी बात सही है, पर अधिकांश लोग ऐसा कार्यक्रम चाहते हैं जिसको वे करें श्चीर जिसका परिणाम श्चांखों से दीले। सर्वोदय-समाज के सेवकों को क्या श्चाप ऐसी कोई चीज सुकार्येंगे १

उत्तर — आँखों से दीखने के लालच को बदाबा देना अच्छा नहीं है। कम की कमी कहाँ है ! अनेक सूत्रों कार्यक्रम तो समाज की रचना के प्रस्ताव में ही पड़ा है। प्रश्न कम के अभाव या जुनाव का नहीं है। प्रश्न है कि उस हाथ के काम का और हृदय की अद्धा का सूत एक है न ! काम में से यह अद्धा प्रकट होती है तब काम बहुत छोटा होकर भी बहुत फल देने वाला है। अन्यथा वह मात्र जकता का स्वक हो सकता है। काम में से अहिंसा नहीं निकलती है, अहिंसा में से काम निकालना चाहिये। यानी प्रार्थना ही वाहर रूप लेकर कम बने तब वह कम अकम होता और बन्धन काटता है। यह दृष्टि जो काम पर अटकती है, परिमाण की भाषा में सोचने लग जा सकती है। यही राजनैतिक दृष्टि है। यह आंकिक दृष्टि है और व्यक्ति की गणना इसमें अंक में होती है। इसमें फल की तरफ निगाह है। यह दृष्टि मिल और कारखाने खड़ी करती है जिसमें आदमी.

सिर्फ हाथ हो जाता है। यानी वह आतमा या विवेक नहीं रहता। लेवर भी भापा में इतने त्रादमी का मतलब है- 'सो मेनी हैं इस।' त्रादमी की संख्या × काम करने के बंटे = फल का परिमागा। यह उसका दर्शन-सूत्र है। यह फार्म ला हम जानते हैं, गलत है। श्रादमी सचेतन है श्रीर या तो वह श्रपना समफकर मन से काम करता है या पराया समफकर खाली मजद्री के खातिर बेमन से काम करता है। हम जानते है कि दोनों डालतों में फल एकसा नहीं त्रा सकता । ऊपर परिमाण में एकसा दीखे भी, पर एक में ऋहिंसा है, दूसरे में हिंसा है। सामाजिक दृष्टि से एक धर्म है, दूसरा पाप । एक से प्रसन्नता का ख्रीर सामाजिकता का विस्तार होगा, दुसरे से विकार स्त्रीर वैर फेलेगा । इसलिए प्रश्न यह नहीं है कि काम यह हो कि वह हो, प्रश्न तो मुख्य यह है कि उसमें वृत्ति स्वेच्छित सेवा की हो । मूल में यह वृत्ति अनिवार्य मानकर चलने से बड़े नफे के लिए किये गये भारी आयोजन हमें अनिष्ट ठहरते हैं। वहीं से विकेन्द्रित अर्थनीति श्चर्यात् व्यक्ति-केन्द्रित श्रम-नीति का सिद्धान्त प्राप्त होता है। इसी से श्चाप पायेंगे कि सर्वोदय-समाज का वजन वहाँ नहीं है जहाँ पर कि वजन रखने श्रीर देने के हम श्रादी बनते श्राये हैं। राजनैतिक कर्म की धूमधाम में हमारी दृष्टि बहुमु खी जो हो गई, उसका श्रमिष्ट चारों तरफ दंखने में श्चाता है। सर्वोदय-समाज को उस श्चानिष्ठ से लड़ना है। इससे बहुत कर्म की भाषा में उसे सोचना भी क्यों चाहिए ?

प्रश्न—सर्वोदय-नीति पर बोलते हुए श्रापने श्रपने भाषण में कहा था कि रचनात्मक कार्य करनेवाले श्रनुभवी लोगों को सरकार में जाना चाहिए श्रीर श्रपने श्रनुभव का लाभ शासन को देना चाहिए। इससे श्रापका क्या तात्पर्य है श्रीर इसके लिए श्रापके निश्चयात्मक सुभाव क्या है ?

उत्तर—हाँ, राजा श्रीर प्रजा के बीच इस वक्त भारी नासमभी है। श्रापसी खाई बढ़ रही है श्रीर वहाँ दुर्भाव पैदा होता जा रहा है। राजा इस समय कीन है श्रीर प्रजा-सेवक कौन ? दोनों ही श्रपने की गांधी-भक्त मानते हैं। यानी एक ही गांधी-कदम्व के वे ब्रादमी हैं। तब दोनों में श्रानवन श्रीर दर्भावना कैसी ! यह स्थित बहुत चिंतनीय है। लेकिन श्रकारण भी इसे नहीं कह सकते। गाँधी की टेक थी-श्रिहेंसा। जिसने उन्हें गोली से मारा. क्या उसके प्रति भी उनके हाथ नहीं जुड़े ? श्रीर उस समय उनके मूँ ह से निकला—'हे राम'। उन गाँधी को पिता माननेवाले राष्ट्र की हुकूमत का फौजी खर्च घट नहीं रहा है, वढ रहा है। ऐसी हालत में प्रजा-सेवक जुब्ध हों तो उसे भी क्या कहा जाय ? पर क्या सेवक यह मानेंगे कि राजा श्रीर प्रजा के बीच तो श्रहिंसा नहीं हिंसा चाहिए ? दूसरी हिंसाग्रों को तो लोग ग्रनचित मानने लगे हैं। जैसे हिन्द-मसलमान के वीच, श्रत्यज श्रीर कुलीन के बीच, श्रमिक श्रीर धनिक के बीच विरोध श्रीर हिंमा श्रनिवार्य श्रीर इष्ट नहीं है, ऐसा लोगों को दीखने लगा है। लेकिन राजा के प्रति प्रजा में वैर श्रीर विद्रोह जगाया जाय तो जैसे वह श्रमी भी उचित मालूम होता है। यह हिंशा मानो हिंसा ही न हो, ऐसा कुछ वातावरण बना हुआ है। अर्थ-तर्क पर सहारा रखनेवाला जो पश्चिम का राजनैतिक विचार हमारे बीच आया तो इसने कुछ ऐसी हवा पैदा कर दी कि जैसे बिद्रोह सनातन ख्रीर परम धर्म है। उसी परिपार्टी में हमारा पिळला जीवन चला है श्रीर चल रहा है। मेरा मानना है कि सवींदय-भावना के लिए इस जगह सब से भारी चुनीती है। कुछ मित्रगण जैसे सरकार के प्रति सहानभृति की कोई जगह रहने देना जरूरी नहीं मानते । गाँधी-परिवार में इस तरह का मनस्याव अच्छा नहीं है । गाँधी-नीति क्या जीवन की समग्र-नीति नहीं है ! उसमें आदर्श भी है ग्रीर व्य-वहार भी । दोनों वहाँ एकमएक हैं । व्यवहार से ग्रलग आदर्श की चितना वहाँ नहीं है स्त्रीर स्नादर्श में जितना हल हो. उससे ज्यादा व्यवहार का रखना जैसे वहाँ परिग्रह का रखना हो श्राता है। उस गाँधी-नीति की विनया कैसे मानेगी श्रागर उसके वारिस राज-दोत्र श्रीर प्रजा-दोत्र में काम करनेवाले हम लोग, समग्र भाव से नहीं चलकर दिखा सकेंगे ? यानी, जब शासन को शासन के रूप में भी अहिंसा की तरफ, चाहे फिर कितनी ही धीमी गित से हो, नहीं बढ़ाते ले जा सकेंगे ? सर्वोदय-समाज के सामने इस समय इमसे बड़ा सवाल दूसरा है, ऐमा मैं नहीं मानता। तब क्या हो ? इस बारे में मैंने माना है कि मेरी मर्यादा सीमित है। मैं तो समाज का सेवक भी नहीं बना हूँ। अपनी तरफ देखता हूँ तो मन हार जाता है और सदस्य बनने की हिम्मत नहीं होती है। अपने मन की चिन्ता सेवकों के सामने रख देने से आगे मुम्ने क्या करना चाहिए, सूम्न नहीं एडता। राज में उतना ही मैं कर सका था। आगे विनोवा जानें और राजेन्द्रवाबू जानें।

सरकारी नीकर इधर युद्ध-पूर्व से पचगुरो हो गये हैं। ऐसे इम क्या टोटेलीटेरियनिष्म की ग्रोर जा रहे हैं ! नहीं जा रहे हैं, सो तसल्ली मन को नहीं मिलती। मेरे मन तो कशेटी वही सनातन सिद्धान्त है कि 'हकमत बहु उतनी ही श्रन्छी जितनी कम हकमत हो।' पर हकमत के पास श्रपना तर्के है, क्योंकि उसकी श्रपनी खास कठिनाइयाँ श्रीर खास जिम्मेदारियाँ हैं। इस बीच धुमखोरी श्रीर भ्रष्टाचार की उसको शिकायत है श्रीर सबको शिकायत है। खाद्य के ऋौर कपड़े के झोर रोजमर्श के काम की दूसरी चीजों के भाव कोई खास कम नहीं हो रहे हैं। देहात के आदमी की मुसीबत वहीं जानता है। उसके और खाने के बीच जाने कितनी ड्योदियाँ हैं। इस हालत में ऊछ नहीं किया जा सका. शासित की असहाय और शासक को स्वच्छन्द ही अनुभव करने दिया गया तो दोनों के बीच का बैर श्रीर बिन्दौली खाई में जीनेवालों का भोगाचार बदने ही वाला है। राज्य के शीर्प पर हैं गांधी के लोग ख़ौर प्रजा के पद-तल में भी हैं कछ गांधी के ही जन । उन दोनों के ऊपर दायित्व जाता है कि शासक ग्रीर शासित श्रीर राजा श्रीर प्रजा के बीच सामंजस्य बना रहे श्रीर जो थोड़ा-बहुत स्थानिक भेद बीच में रहे भी तो उसमें सुवास श्रीर सद्भाव उपजे। यह नहीं हन्ना तो मेद इनको खा जायगा । मेद यानी विग्रह स्त्रीर युद्ध का

दर्शन । कम्युनिब्स श्रीर क्या है ? ऋर्य की मापा में वह स्टेट केपिटलिज्स (पूँजीवाद) है। नीति की भाषा में वह वैज्ञानिक हिंसावाद है। हम निश्चित श्रीर सिकय श्रिहिंसा से, श्रीर उसकी तरफ, नहीं बद सकेंगे तो हिंसा को हमारे बीच फलते श्रीर फ़लते ही जाना है। दसन श्रीर इन्फ्लेशन (नोटों के फैलाय) से न कुछ दबता है, न बनता है। इनके सहारे चलकर सरकार नाश की तरफ बढ़ती है। मन की यही सब दुश्चिन्ता थी जिसको लेकर मुमसे राऊ में बोलने की पृष्टता बन पड़ी। इधर विनोबा श्रीर राजेन्द्रबाबु श्रीर उधर नेहरू श्रीर सरदार, इन चारों को मिलकर कोई तरकीब निकालनी होगी। दुनिया की श्राँखों में हिन्दुस्तान को कुल मिलाकर एक तरफ चलना होगा । वह तरफ ऋहिंसा की होगी तभी दुनिया अपने अंतर्राष्टीय चेत्र में गाँधी की ऋहिंसा को मानेगी । यह हिन्तुस्तान के हाथ में है कि गांधी को या तो दुनिया के लिए निरे सिद्धान्त का आदमी बना देया उसे सच्चे लोकनायक श्रीर लोकत्राता का रूप मिलने दे। मेरा सचमुच मानना है कि इस संकट के श्रवसर पर हमारा श्रकिंचन मुक लोकसेवक गाँधी के नाम पर चलनेवाली सरकार की सक्षायता को नहीं झाया. वा सरकार उस सहायता से लाम नहीं उठा पाई तो दोनों इवेंगे । ऋहिंसा का नाम भी द्ववेगा, उसका काम भी द्वव जायगा। रचनात्मक श्रौर पार्लामेंटेरियन या एडिमिनिस्ट्रेटिव काम में भेद हो, लेकिन संकट के समय उनमें हमें ग्रमेद भी देख लेने की हिम्मत करनी होगी। सरकारी श्रमला वही है, जो था। वह श्रफसरी भावना में पला-पुसा है। काम सेवकाई की भावना से ही सधनेवाला है। उस अमले का दिल एक दिन में कैसे बदल जायगा ? ऐसी हालत में प्रजा के प्रतिनिधि होकर जो श्रमलदारी के शास्ता वने हैं, उन्हें अपने उदाइरण से सन्ची सेवकाई दरसाना श्रीर सिलाना होगा । इसी से राऊ में मुक्ते कहना हुआ था कि रचनात्मक कार्य में तपे हुए सेवकों को लाना और इस नये कामक्ष्में परखना होगा। निश्चय ही वह विचार सबके सामने है ब्रीर विनोवा ब्रीर नेहरू के हाथ उसे श्रमल देने का काम पड़ा हुआ है।

प्रश्न—सर्वोदय की कल्पना में तो विश्व-बंधुत्व निहित है, तब राष्ट्रों की राष्ट्रीयता को उसमें क्या स्थान होगा ?

उत्तर-विशव-बंधत्व मनोरम शब्द है। वह सुनते तो सदा से हैं। लेकिन जैसे व्यवहार की धरती का न हो, कुछ ग्रासमानी हवा का ही वह हो । इस तरह के विश्व-वंधुत्व से सर्वोदय का काम नहीं चलेगा । उसमें यथार्थता डालनी होगी। आज विश्व राष्टों में बँटा है। राष्ट्रीय सरकारें उसकी इकाई हैं। उन सरकारों का तंत्र ऋलग-ऋलग तरह का हो सकता है, पर उन्हें एकत्रित करके रखनेवाली और दूसरों के साथ उनके व्यव-हार-वर्तन को नियमित करनेवाली चीज राष्ट्-भावना ही है। श्रागे साम्राज्य फैले हैं, कामनवेल्थ है, राष्ट्र-समृहों की संघटना है, अभी हाल का पटलांटिक पैक्ट है, कम्युनिस्ट 'कामिनफार्म' है और इन सबके बाद यूं • एन • ग्रो • है; लेकिन इनमें से कहीं भी राष्ट्र-चेतना श्रनुपस्थित या श्रसंगत नहीं है। तिस पर यह सब एक या श्रिधक सरकारों के सिमालन से बने हैं। सरकारों के मिलने से लोग मिलते हैं, यह समभाना सही नहीं होगा । नीचे प्रजाय्रों में पृथक् चेतना वनी चली ही जाती है । हमारा कारोबार भ्राज के दिन नेशनेलिटी (राष्ट्रीयता) के श्राधार पर चलता है। जरूर हमें इस सुविधा का उपयोग करते हुए घीरे-घीरे इससे उत्तीर्ण हो रहना होगा। यह काम तब तक नहीं होगा, जब तक हर दो राष्ट्र अपने सीमान्त पर फौजी छावनी डालकर अपने को सुरिवात मानने की आदत जारी रखते हैं। ऐसे राष्ट्रवाद का नारा श्रथने को सबसे ऊंचा उठाये बिना न रहेगा श्रीर उसके प्रचार श्रीर शोर के नीचे कुछ भी श्रीर नहीं सुनने को मिलेगा। ईश्वर की सत्ता को दबना या दुबकना होगा जिससे उसका स्थान राष्ट्र-सत्ता ले । ग्राज हम इसी स्थिति में हैं । 'सर्वोदय' भाव राष्ट्र को स्वीकाकार सकता है, किन्तु वहीं तक जहाँ तक राष्ट्र स्वयं भगवतसत्ता को स्वीकार करता और उस यह पर चलने में सुविधा देता हो। यानी राजनीति वही चले जो निरपेच नीति, धर्म-नीति, का श्रानुशासन

स्वीकार करे । ऐसे हिंसा यानी स्पर्धा-विग्रह पर टिक पहनेवाला राष्ट्रवाद गलत ठहरेगा । कारण, वह आगे पीछे अंतर्राष्ट्रीय तनाव बढ़ाने में योग देनेवाला होगा। श्रिहिंसा को श्रपने सब व्यक्तिगत, सामाजिक, सार्व-जनिक, राजकीय स्त्रौर स्रांतर्राप्ट्रीय-व्यवहार के लिए एक सन्न बनाना होगा । इसमें व्यक्ति से लगाकर राष्ट्र या राष्ट्र-समूद तक किसी भी इकाई का लंडन नहीं है। मैं स्वयं रहकर हिन्दुस्तानी भी रह सकता हूँ, बशतें कि इसमें दूसरे के या इतर-देशीय के साथ गैरियत या विरोध का भाव गर्भित न हो। श्राप देखेंगे कि यह शर्त स्वार्थ को नीति मानने पर किसी भी दायरे में पल नहीं सकती । मैं अगर अपने स्वार्थ से चिपटा हूँ, तो दूसरे के साथ मेरा विरोध टल नहीं सकता। ऐसे फाँस ग्राँर समस्या उत्पन्न होगी ही। इस तरह राष्ट्रनीति या राजनीति किसी भी वर्ग अथवा राष्ट्र के स्वार्थ के संरत्नु हा श्रांत श्रीर इष्ट मानकर चलना चाहंगी, तो शेप से मेल-जोल साधना उसके लिए शक्य न होगा । यानी सर्वोदय एक चेतावनी है संसार के समग्र राष्ट्रों की राष्ट्र-नीति स्रीर सब कहीं की राजनीति के लिए । अपनी कल्पना को स्व-अर्थ और विग्रह से हटाकर परम-अर्थ और संग्रह तक वे नहीं उठा पार्येंगे, तो उन राष्ट्रों की आपस में लड़ मरना होगा। लड़ना कोई नहीं चाहता, फिर भी लड़ना जो पड़ता है सो कुछ ऐसे ही द्यांतरिक कारगीं से जो उन्हें स्वाधीन छोड़ते ही नहीं हैं। ऋर्थात् किसी राष्ट्र की राजनीति तय तक नैतिकता की श्रोर नहीं चल सकती, जब तक उस राष्ट्र का स्रांतरिक श्रर्थतंत्र विकेन्द्रित स्रीर मद्रा के स्थान पर श्रम में केन्द्रित न हो । श्राप देखेंगे कि इस तरह सर्वोदय निरा नारा बनने नहीं श्राया है। उसके पास समग्र दृष्टि है । श्रीर वह जबिक राष्ट्र श्रीर उनकी राष्ट्रीयता, जिनकी उनकी श्रपनी-श्रपनी ऐतिहासिक श्रीर सांस्कृतिक परम्परा थामे हुए हैं, मंग नहीं करना चाहता है, तब परस्पर सामजस्य लाने का मार्ग उनके ब्याने श्चवश्य खोल देता है।

लेकिन यह सब मनस्वों का अम्बार क्यों ! मारत की अपनी राष्ट्रीयता

जब तक कांटेदार बनी है तब तक आगे बातचीत बढ़ाने का साहस ही क्या करना ! मेरे ख्याल में गाँधी की जन्मभूमि, कर्मभूमि और धर्मभूमि यह भारत अपनी राष्ट्रीयता को सही दिशा में नहीं मोड़ सकेगा तो इस भारत को केन्द्र बनाकर उठनेवाला नैतिक अभ्युदय का यह सर्वोदय-आंदोलन भी बहुत आगे बढ़ सकेगा, इसमें संदेह हैं। इस सबको इसलिए अभी तो अपनी पूरी कोशिश इसमें लगाने में लगना चाहिए।



## सर्वोदय

'सर्वोदय' पर जितना ही कहना चाहता हूँ, शुरू करते उतनी हैं उलफन होती है। उस शब्द को तो आप जानते हैं। दिच्चिए अप्रीका में गाँधी जी ने एरिकन की पुस्तक 'Unto This last' का अनुवाद किया तो उसे नाम दिया 'सर्वोदय'। गाँधी जी के उठजाने पर उनकी नीति में आस्था रखनेवाले लोग पिछले साल सेवाग्राम में जमा हुए तो उन्हें अपनी मावना व्यक्त करने के लिए सबसे उपयुक्त शब्द जँचा यही सर्वोदय। सीधा उसका मतलव है, सबका उदय। यानी अस्त किसी का भी नहीं। आज के जमाने में इस तरह की अद्धा रखना और जतलाना बड़ी हिम्मत की वात है। क्योंकि स्रज उदय होता है तो क्या चाँद को तब अस्त ही नहीं होना पड़ता। इसी तरह सहसा यह समफ में नहीं आता है कि एक अगर आगे बढ़ेगा तो दूसरा पीछे कैसे नहीं रह जायगा। यानी एक वर्ग के नफे में और उभार में दूसरे वर्ग का थोड़ा बहुत टोटा और उतार समाया ही है। दो मत विरोधी हों, या हित विरोधी हों, तब एक ही साथ दोनों का उदय कैसे हो सकता है! अवश्य एक के अस्त के साथ ही दूसरे का उदय है।

इसी तरह ख़ुली आखों देखते सर्वोदय की बात कुछ, भावुक आदर्श की लग आती है, जो कामकाज में ठहर नहीं सकती। आज विग्रह है, विकलता है, और युद्ध की सम्भावना से हवा गर्म है—ऐसे में सर्वोदय की बात आसमानी आदमी ही तो करेगा। लेकिन लोग जो सेवाप्राम में जमा हुए थे, श्रासमानी तिनक न थे। वे टोस घरती के कामकाजी लोग थे। श्रपनी जगह कुछ उगाने बनाने या प्रत्यच्च व्यवस्था या सेवा के काम में जुटे लोग थे। किव कोई उनमें बिरला ही होगा। कोरे सपनों से उन्हें क्या काम ! रचनात्मक श्रम मेंमन श्रोर तन तपानेवाले वे श्रादमी विग्रह श्रौर संघर्ष की स्त्वना से श्रनजान न रहे होंगे। शायद उसकी श्रनिवार्यता भी जानते होंगे। फिर भी साहस बाँधकर दुनिया को उन्होंने कहा कि हमारी रहने की श्रौर करने की, यानी तमाम जीवन की नीति 'सवोंदय' होनेवाली है। श्रर्थात् जो श्रपना हमसे बिरोध मानते हैं उनका भी हम मला चाहते हैं। चाहने के साथ उनका मला करने में ही हम लगे रहनेवाले हैं। यही सवोंदय है। श्राहंसा का मतलब इतना ही नहीं कि हम किसी का बुरा नहीं चाहेंगे श्रीर नहीं करेंगे। नहीं, बल्कि हर किसी का मला सोचेंगे श्रौर वह भला करने के लिए उसकी तरफ श्रागे बढ़ेंगे।

उन लोगों की यह घोषणा, इस दुनिया में जहाँ दुश्मिनयाँ हैं श्रीर दुश्मिन को दूर करना मनुष्यता के प्रति लोग अपना पहला दायिल श्रीर कर्तव्य समक्ष उठे हैं; जहाँ इस दुश्मिन को कला का सौन्दर्य श्रीर दर्शन की गरिमा मिली हैं; जहाँ उसके समर्थन में सदियों में से मानव बुद्धि ने शस्त्रास्त्र के रूप में अनुपम चमस्कारी आविष्कारों से हमें सुवज्ज किया है—वहाँ मुट्टी मर लोगों का यह कहना दुस्लाहस समक्षा जा सकता है। श्रीपसी शत्रुता के धोर रथ में उसे सुना-अनसुना किया जा सकता है। फिर भी उन लोगों ने जानबूक्तकर तोल-परखकर यह किया। साथ ही उन्होंने कहा कि उनके अपने लिए जब यह सर्वोदय-नीति वत ही है, तब बाकी दुनिया के लिए भी उसके सिवा कहीं ताथ नहीं है। हिसा से हिसा कटती दीखे, लेकिन शेष जो बच उहता है उसमें हिसा और भी गहरी पैठ रहती है। हारे इतिहास में क्या यही नहीं दीखता है कि हिसा के उपाय से जितनी हिसा कटती है, उससे कहीं ध्यादा उग आती है। वह राह नहीं

है शान्ति की और एकता की। शायद हिंसा फल है जो अगली फसल के लिए फिर बीज साबित हो आता है। आदमी हिंसक नहीं है, लेकिन उसने अपना समाज कुछ ऐसा बना लिया है कि आपस में सहयोग की जगह स्पद्धां उसे सहज होती है। हमारी अर्थनीति, समाजनीति, राजनीति जुड़ाती नहीं, हमें लड़ाती है, और जब हम जुड़ते भी हैं तो दल के रूप में कि दूसरे दल से मोर्चा ले सकें। यानी वे गुण जो आदमी को आदमी से मिलाते हैं, वहीं तक गुण हैं जहाँ तक अन्त में वे होप और विमह को पुष्ट करते हैं। नतीजा यह होता है कि आदमी अपना अमित विकास करता है, केवल इसलिए कि अन्त में दूसरों को दवाने या मारने में सफल हो सके।

सेवाग्राम में जो लोग जमा हुए उनके लिए सर्वोदय सिद्धान्त का ही तत्त्व नहीं था, प्रयोग में वह परखा जा चुका था। गाँधीजी का जीवन उनके सामने था, जो आदि से अन्त तक उसके सफल अमल का आलेख था। निपट अकिंचन वह जीवन लोकिक , विभूतियों का अलोकिक पुंज वन रहा। हर तरह अपने को विद्दीन बनाकर वह व्यक्ति यहां फी राष्ट्र और राजसत्ता का अखरड अदूर केन्द्र बनकर रहा। उस सफल जीवन के सरल मन्त्र को वह व्यक्ति स्वयं अपने परिवार के हाथों दे गया था। चौदह स्त्री रचनात्मक कार्यक्रम था, जिसमें यथा-समय नये स्त्र जोड़े जा सकते थे। उन सबके छोत के रूप में बता दी गई थी आहिंसा, जिसे फिर अपना प्रकाश लेना था निर्देत सत्य से। इस तरह प्रयोगसिद्ध और बार-बार कसौटी पर परखा गया एक समग्र जीवन-दर्शन और जीवन-कम उन लोगों के समस्त्र था और गाँधी के उदाहरण में उसे जीवा-जागता मूर्स शरीर भी मिल चुका था।

इसलिए निश्शंक उद्घोप के साथ सेवाप्राम में इकट्ठे हुए उन लोगों ने कहा कि एक श्रोर श्रकेला मार्ग वही है जिसे गाँधी चलकर जगत् के लिए खोल गया है। वही है, दूसरा सब कुछ मूलसुलैयां है।

इस घोषणा के साथ वहाँ सर्वोदय-समाज की भी स्थापना की गई। क्या एक 'समाज' होकर यह सर्वोदय भी इतने वर्गों. दलों श्रोर संस्थार्श्रो में एक श्रीर की गिनती वढानेवाला नहीं हो जायगा ? ऐसा प्रश्न हो सकता है। पर विलद्धारा वह समाज है। ग्राप पूछिये कि कीन उसका सदस्य है, तो मालूम होगां कि जो ब्रापने को कहे वही उसका सदस्य है। क्या उसके नियम हैं, तो जानने को मिलेगा कि सर्वोदय के विश्वास के श्रालावा कोई भी दूसरा नियम नहीं है। ऐसा समाज क्या किसी ने देखा-तना है १ पर सर्वोदय समाज को ऐसा ही वनना है । श्रधम का, पापी का, बच्चे का, बढ़े का-किसी का उसमें वहिष्कार न होगा। लोग, इम ग्राप सभी लोग, सीमाग्रों सं लगकर रहने के श्रादी हैं। गर्व मानते हैं कि इस भारतीय हैं, क्योंकि भारत वह है जो एक सीमा पर समाप्त है। इस तरह ग्रहंकार ग्रपने लिए श्रीर दूमरे के लिए ग्रवजा मन में रखते हुए हम जीते श्रीर ऐसे जाने-श्रनजाने हु प उपजाते रहा करते हैं। श्रीध-कांश उसीको काम करना श्रीर उन्नति करना हम माना करते हैं। इसी से सहसा यह सीमारेखा-हीन सर्वोदय-समाज संघटन के रूप में हमार मन में पूरी-पूरी तरह जमना नहीं है । लेकिन सर्वोदय-शास्त्र के मनीपियों ने ऐसा ही ब्राकार-प्रकारहीन उसे रूप दिया है। सच ही यह श्रभूतपूर्व रचना है जिसके लिए कोई अनारमीय ही नहीं बचता है और जिसने इसीलिए जन्म लिया है कि सबको, सभी किसी को, एक श्रात्मीयता में बाँध ले। ब्रवश्य इसमें जगत् का सब प्रकार का नानापन समाकर भी ब्राह्मएए (हेगा । हरएक की निजता का पूरा-पूरा वहाँ अवकाश होगा । कोई किसी ार न शेक बनेगा, न आरोप; कारण, हर अपना उदय दूसरे के. श्रीर [सरों के, उदय में से ही देखेगा । ऐसे समाज से यह हर कि वह एक नये ग्राग्रह श्रीर नई श्रारिमता को पनपायेगा बुधा ही मानना चाहिए।

उस सर्वोदय समाज का इसी मार्च महीने में पहला वार्षिकोत्सव हुन्गा। न्दौर के पास देहात में फूँस की भोंपिंड्या खड़ी हुई स्नौर तीन रोज़ के लिए वहाँ किसी को याद न रहा कि वाहर समाज में वह बड़ा है कि छोटा है, राजा है कि रंक है।

सभा-समाजों के श्रिधवेशन तो होते हैं श्रीर वहाँ प्रस्ताव पास हुश्रा करते हैं। प्रस्तावों से श्राशा बंधती है श्रीर श्रागे के लिए संकल्प स्थिर होता है। पर वहाँ प्रस्ताव ही कोई पास नहीं हुश्रा। इसे क्या प्रस्ताव कोई कि तय हुश्रा कि साध्य के समान साधन को भी शुद्ध ही रखना होगा। यह भी जाहिर किया गया कि देश-विदंश का इसमें फर्क नहीं है श्रीर सर्वोदय में सभी का स्वागत है। बहुत से देशों से लोगों के पत्र श्राये ये श्रीर कुछ उनमें बहुत ही बढ़िया गत्र थे। सभी में चाहा गया था कि सर्वोदय में उन्हें भी सम्मिलित समभा जाय श्रीर वहाँ एकत्रित जनों ने हृदय से उन्हें श्रपना मान लिया था।

वैसे एक प्रस्ताव भी थ्रा गया था। उसपर चर्चा हुई श्रीर खासा विवेचन हुआ। श्रंत में विनोवा ने समक्ता दिया कि प्रस्ताव का मतलव इतने में ही पूरा हो गया कि उससे हमें श्रात्म-मीमांसा का श्रवसर मिला। श्रागे हमें किसी को भी पास-फेल नहीं करना है। सबका जज उन सबके श्रंदर ही बैठा हुआ नहीं है बया कि जज बनने का कह हम श्रपने उत्पर लें १ श्राप विनोवा को जानते ही होंगे। सर्वोदय-समाज की वह आहमा हैं। शायद इसीलिए वह उसके सदस्य भी नहीं हैं। तब पद-बद तो उनके पास क्या ही पहुँच सकता है।

श्रव समय होता है श्रीर मुक्ते बात खतम करनी है। सच यह कि मैं घवराया हुआ हूँ। क्या श्राप घवराये नहीं हैं ? बाहर घमसान मचा है। सचमुच लड़ाई श्रगर छिड़ी हुई नहीं है तो क्या इससें हममें से किसी को जरा भी ढ़ाढ़स पहुँचता है ? लड़ाई ऊपर नहीं है, लेकिन भीतर क्या कहीं किसी तरफ से उसमें कभी हैं ? शायद हमें सब तरफ श्रॅंधेरा दीखता है। एक था, जिसे इम बापू कहते थे। वह भी हमें छोड़ कर चल दिया है। पर देखें तो वह ठीक ही गया है। नहीं तो श्रपनी श्राँखों दंखना श्रौर श्रपने पैरों चलना हम सीखते कैसे ?

लेकिन शायद घोरना इसीलिए है कि हम प्रकाश के लिए विकल हों और उसके लिए अपने की टटोलें और पार्ये। अन्धेरा घना तभी न होता है जब उसके फटने का बक्त आ पहुँचता है। तब देखते-फेखते कालिमा में से लालिमा फूटती है, जो उजली धूप का आवाहन बनती है।

क्या आप मानेंगे कि नवींदय-समाज चितिज पर उठी आशा की वह लाल लकीर है। लाल वह लहू से नहीं है, केवल लज्जा से है। आप चाहें तो यह कुछ देर में भी मान सकते हैं, जब वहाँ से प्रकाश उजला होकर फूट चलेगा। किन्तु में आपकी अनुमति से आज ही यह आशा अपने मन में रख लेना चाहता हूँ।



#### : ५ : पुर्वोदय

सर्वोदय शब्द परिचित है। पूर्वोदय उसी की नकल में निकला हुन्ना कुछ होगा, ऐसा लग सकता है।

पर लेखक की झोर से ऐसा'नहीं है। सर्वोदय भावना है। जब भावना घटना वनने चलेगी तो सर्वोदय का रूप पूर्वोदय होगा, यह उसका विश्वास है।

उदय हम सबका चाहते हैं। पश्चिम क्य श्रीर पूरव का, दिज का श्रीर श्रंत्यज का। लेकिन पश्चिम की तुलना में पूरव का श्रीर दिज की श्रपेत्वा में श्रंत्यज का, जो पिछुड़े हुए समभ्रे जाते हैं। इससे सर्वादय श्रायगा तो श्रनिवार्यतः पूर्वोदय श्रीर श्रंत्योदय के श्रारंभ से उसे श्राना होगा।

श्रंत्योदय की हम श्रिषक समभ सकते हैं, लेकिन पूर्वोदय की स्वीकार करने में कदाचित् मानिसक बाधा उपस्थित हो सकती है । कारण, पूर्व शब्द दुनिया को जोड़ता नहीं दो हिस्सों में बांटल हैं। दुनिया एक है, श्रीर एक हो रही है। पूर्व का उदय चाहकर जैसे इस एकता में फाँक पैदा की जाती हो; मानो पूर्वोदय में पूर्व की श्रोर की श्रहंता का निनाद हो। श्रात: सर्वोदय को जब श्रंत्योदय के रूप में हमें स्वीकार करना श्रच्छा लग सकता है, तब पूर्वोदय के रूप में उसे देखने से वचने की इच्छा भी हमें हो सकती है।

सही यह कि पूर्व श्रीर पश्चिम दोनों सापेख धारणाएँ हैं। कोई देश नहीं जो एक साथ इमारे पूर्व श्रीर पश्चिम दोनों दिशाओं में न हो 🛭 विश्व वृत्त है श्रीर दिशा-बोधक संज्ञाएं केवल व्यवहार की सुविधा के लिए दे। पूर्वोदय में किन्हीं खास देशों का उदय श्रीर दूसरे किन्ही का अस्त इष्ट नहीं है। इए निरपवाद सबका उदय है। इसमें गर्भित है कि यदि कोई एक (व्यक्ति, समुदाय या देश) किसी दूसरे को परास्त करके उसके वल पर गर्वोन्नत है, तो सर्वोदय में उसको अवनत होना होगा। विनत होना सीखने के लिए अवनत होगा। इस अवनित में से विनति श्रीर फिर सच्ची आत्मोन्नति श्रायगी। घमंड अगर है तो उसे गिरना होगा, बाद ही आत्मलाम की श्राशा होगी।

इस प्रकार सर्वोदय बिंद मावना की स्त्रोर से सबके प्रति मधुर है तो घटना की स्त्रोर से उसे कठोर होने स्त्रोर निर्मम वन रहने में कोई कठिनाई नहीं होनी चाहिए।

श्राज यो जगत् का राजकरण् दो समूहों (क्लाक्स) में वँटा हुश्रा है। एक पश्चिम का कहा जाता है, दूसरा पूरव का। श्रमेरिका पश्चिम का नेता है तो रूस पूरव का स्त्रधार है। यह 'पश्चिम' श्रोर 'पूरव' यहाँ म्गोल की भाग के हैं। मौगोलिक से श्रिक उनमें सार नहीं है। पूरव श्रोर पश्चिम वहाँ श्रपने से किसी श्रिक या श्रन्यत्र भाव के प्रतीक श्रोर स्चक नहीं हैं। वहाँ उनमें बोध गुटवन्दी का है। सीधे श्रोर श्रुद्ध मानों में दो दल है, जो बड़ा-चड़ी की दोड़ में हैं। श्रखाड़े में उतरने की घड़ी श्राये तो उसके लिए उनकी तैयारी मुक्तिमल बल्कि दूगरे से सवाई मिले, इनमें बे लगे हैं।

लेकिन लेख के शीर्षक का पूर्वोदय इस सबसे वास्ता नहीं रखता । उसकी श्रात्मा सर्वोदय है जिसका श्राशय यह नहीं कि संघर्ष न होगा या कि उससे किनारा ले बचना होगा, विल्क श्राशय यह है कि एक श्रोर से श्रवश्य ही वह संघर्ष सर्वोदय-निष्ठा से श्रीर श्रहिंसक कर्म की पद्धित से लिया. श्रीर मेला जायगा। पूर्व, जो पिछड़ा समका जाता है, जब श्रपने जन-बल श्रीर मन-बल को समके श्रीर पहचानेगा, वह व्यर्थ मश्रीन-बल की होड़ में नहीं पड़ेगा । इस तरह मशीन के सहारे बड़े बने हुए पश्चिम को वह घथा ग्रहं-दंभ में ग्हने ग्रीर भूलने का ग्रवसर न देगा। मार्शल-एड श्रीर शूमा-सहायता जैसी योजनात्रों को माथे लेकर मशीन को श्रीर मशीनी हाथयारों को ग्रादमी सं ज्यादा बड़ाई देने वह नहीं जायगा।

जीवन की एक पद्धति है जिसे पश्चिमी कहकर हम हंगित कर सकते हैं। इग नीति श्रीर पद्धति का पश्चिमी समसे जाने वाले देशों में ही चलन हो पूरव में नहीं, सो नहीं। सच पूछिए तो सोवियत-गद्धति पाश्चात्य समय-जीवन-धारणा की चरम प्रगति है। वह उसका तर्कान्त रूप है। पश्चिम की हिंछ ने इन्सान के रूप में विखरी-फेलो जीवन की वैयक्तिक इकाई को नष्ट करके एक सुगठित विशाल सामाजिक इकाई को जन्म देने की नेष्टा की, उसका नाम करणा हुआ स्टेट। सिद्धान्त बन उठा कि स्टेट ही हैं, व्यक्ति नहीं है। स्टेट की दृष्टि से श्रावश्यक होगा तो उसको श्राण कर दिया जायगा। श्रात्म की श्रोर से कहीं किरी व्यक्ति के पास जीने का कोई समर्थन नहीं है। व्यक्ति से बाहर होकर जो फैला हुआ समाज ह मूल समर्थन सब उसमें है। वटी समाज अपने रच्चणीय तत्नों के श्रधार पर फिर स्टेट में सांगोपांग मूर्त होगा श्रीर उस स्टेट में ही सब स्वत्व श्रीर स्वामित्व, श्रीचित्य श्रीर समर्थन केन्द्रत होगा।

्यह दर्शन पश्चिम में पैदा हुन्ना। पर उन्हीं देशों का स्वत्व कन कर रह न गया। रूस देश ने, जिसे ब्रापने को पूरव का मानने का सुभीता है, उसे कर्म का ब्रोर घटना का चोला पहनाया।

इस तरह श्राजकल के राजनीतिक संघटनों में पूरव श्रीर पश्चिम शब्दों का प्रयोग बहुत सीमित श्रीर तंग है। वह भ्रामक भी है। मूल भूमिका का दोनों छावनियों में कोई भेद नहीं है। दोनों जगह एक से हिथयारों की तैयारी है, श्रीर पूरव पश्चिम विशेषणों का भयोग वहां केवल देशों की स्थिति श्रीर उनके श्रद्धांश-परिचय की दृष्टि से है। रूत श्राज पिछड़ा हुत्रा नहीं, महिमामय देश है। पिछड़े समभे जानेवाले देशों के प्रति श्रमरीका का जो भाव है, रूस का भाव उससे कुछ, बहुत भिन्न नहीं। इन दोनों मूर्धन्य राष्ट्रों को उन पिछड़े देशों का उद्धार करना है, उनको सहारा देना है, उन्हें स्वावलम्बी बनाकर श्रपने पैशे पर खड़ा करना है, समृद्ध करना है, श्राधिनक बनाना है, शिचित करना है, उनके जीवन-मान को ऊँचा उठाना है, इत्यादि।

जी सत्ताशालियों की बड़ी हुपा है! जिनके पास सामान नहीं है, मशीनें नहीं हैं, अस्त्र-शस्त्र नहीं हैं, कल-कारखाने नहीं हैं, बिंद्या अखवार, बिंद्या मकान और बिंद्या सामग्री नहीं हैं, जीवन जहां का सीधा-सादा है, संख्य में जहाँ सम्यता नहीं है और मनुष्यता नहीं है, केवल जड़ता और पशुता है, ऐसे दीन और दिरद्र देश याचना की आँखों से उन सत्ताशाली प्रभु देशों की और देख सकते हैं। परम दया होगी और आतुल उपकार होगा जो वे अस्त्र-शस्त्र से हमें लैस करेंगे, हमें मशीनें देंगे और सम्यता देंगे। हमारे पास सिर्फ कच्चा माल है। उनके अम्ल्य उपहारों के बदले में हम बेचारे यही उनहें मेंट कर सकते हैं।

अप्राज की विश्व की राजनीतिक स्थिति यह है। एशिया के देश पिछुड़े हुए हैं। आगे बढ़े हुए देश, जिनके पास सत्ता है और प्रचुरता है, उनको अपनी शरण में विना लिये नहीं रह सकते।

लेकिन यह स्थिति सूठ है। राजनीति का नक्शा वहलाने और बह-काने का है। सच यह है कि पश्चिम की जीवन-पद्धति और उसके सहारं बढ़े हुए वे देश जिनको आज हम बड़ा और ऊंचा मान रहे हैं, असल में अपना दिवाला पीठते जा रहे हैं। उस जीवन-पद्धति की सांसें अन्तिम हें और वह दूट रही है। अपना अतीत उस पर स्वयं मारी है, और एक और युद्ध पैदा करने से अधिक वह जीवन-विधि मविष्य की दिशा में कुछ श्रीर नहीं कर सकती। उसमें से उन्नित निकली है श्रवश्य, मगर टीक उतनी जितनी श्रहंता उपजी है। यह विस्मित करती है उतनी ही जितनी श्रातंकित करती है। वेग उसकी श्राधीरता है श्रीर ज़ोर नशा है।

तथ्य यह है कि जब-जब पश्चिम की उस जीवन-पद्धति की मुठभेड़ लेनी पड़ी है पूरव की जीवन-नीति के साथ, तभी तब खीभ में हथियार खींचने के अलावा अपने त्राचा का उसके पास और उपाय नहीं रह गया है। वे हथियार जो कमजोरी का सबूत है, बल का भ्रम उपजाते रहे हैं। उन्हीं ने स्थिति में उलमन पैदा की है। हथियारीं से प्रकृत श्रवस्था बदल नहीं सकती श्रीर जीवन का सहज विकास उनसे कुछ इक मले जाये, मुझ नहीं सकता।

दिच्या अक्रीका को.लीजिए, जो गांधी-व्यक्ति स्त्रीर गांधी-तत्त्व के निर्माण में प्रयोगशाला बना। भारतीय हीनतम स्थिति में वहाँ पहुँचे थे। श्रिधिकांश वे 'गिरमिटिया' थे। पर कुछ ही वर्षों में उस देश की धरती में उनकी जहें गहरी पहुँच गईं श्रीर उनकी स्थित हट होती गई। यहाँ तक कि पहले के वहाँ बसे हुए गोरे लोगों को चिन्ता हो आई । सुकाबले में वे लोग जैसे हल्के स्त्रीर हीन पड़ते थे। भारतीय कच्ट-सहिप्ण थे, मितन्ययी थे, उद्यमी थे। वे व्यर्थाभिमान के शिकार नहीं थे। परिग्रामतः निरीहायस्था में पहुँचने पर भी वे वहाँ के जीवन में आपने लिए महत्वपूर्ण स्थान प्राप्त करने लगे। पश्चिम की जीवन-विधि इसरी थी। उसमें वमंड का सहारा था। वह कच्ची थी। उद्यम से श्रधिक उसमें ऐश की स्थान था। इन दो जीवन-विधियों के प्रकृत इन्द्र में पारचात्य को खीसकर श्रम्त्र का सहारा लेना पड़ा । उन्होंने अवज्ञा, वृग्धा श्रीर तिरस्कार से काम लिया । प्रहार-बल, कानून-बल श्रीर श्रस्त्र-बल का प्रयोग किया । लेकिन गांधी में मूर्त होकर पूर्व की जीवन-विधि उस सब हीनता ख्रीर पशुता के विरोध में श्रपने की उत्तरोत्तर श्रविजेयं ही सिंह करती चली गई। भारतीय दीन थे, दलित थे, श्रशिदित थे-थह सब ठीक, लेकिन दीन के विरोध में 'धन-

गर्वी होना, दिलत के विरोध में दमनकारी होना श्रीर श्रशिचित के मुका-बिले केवल श्रच् की स्वार्थ-विद्या से शिच्तित होना, श्रपने श्राप में कोई बढ़कर बात न थी—यह उस द्वन्द्र से सिद्ध होता चला गया।

जहाँ कही भी पश्चिम श्रीर पूर्व की जीवन-नीतियाँ श्रामने-सामने श्राकर संघर्ष में जूभी हैं, दीख पड़ा है कि पश्चिम की नीति जल्दी चुब्ध हो श्राई है श्रीर मानवता को छोड़ने पर उतारू हो गई है। मानवता से तब वह दानवता पर उत्तर श्राई है। दानवता के बल से मानवता पर विजय पाना गर्व श्रीर क्षेय की बात नहीं है।

श्राज श्रदत्र-शरत्र के, श्रीर उनका सहारा लेकर चलनेवाले कानून के, जोर से एक कृत्रिम शक्ति-संतुलन की श्रवस्था को बनाये रक्खा जा रहा है। लेकिन यह कृत्रिमता श्रधिक काल टहर नहीं सकती। मानव-जाति का विकास श्रन्ततः मानवीय गुणों की प्रतिग्ठा पर ही टिकनेवाला है। पदार्थ के परिमाण से मानव-विकास का माप न होगा। श्रागे चलकर जातियों श्रीर दंशों का महत्त्व उनकी श्रन्तस्सिद्ध मानयता के श्रमुपात मे ही होगा श्रीर श्रस्त्र-शस्त्र उसमें किसी तरह बाधा न बन पार्वेगे।

रंग, देश, जाति, भाषा ऋदि का जब ऋपने ऋष में महत्त्व न पहेगा—और यह महत्त्व ती ऋब ऋषों ऋगनेवाले १२०-२५ वर्षों में प्रायः समाप्तं हो जानेवाला है—तब गारे या काले, ऋमरीकी या ऋदि-वासी होने से ही कुछ निर्णय न हो जाया करेगा, बिल्क उनकी ऋग्निरिकता ऋथीत् संस्कारिता की ऋपेचा में मूल निर्णय होगा। तब पता चलेगा कि भौतिक राशि से आत्मिक गुरा बड़ी सम्पत्ति है और ऋदिमी वह महान् नहीं है जिसके पास बहुत सामान है, बिल्क महान् वह है जिसके पास बहुत सहानुमृति है |

् . सामान श्रीर सहानुभित का सम्बन्ध सच पूछिए तो उल्टा है। सामान बढ़ाकर श्रीर बटोर कर सहानुभित से श्रादमी हीन होता है। सहानुभृति बढ़ने पर सामान अनिर्वायतः ही कम होता जाता ह। क्योंकि वह आस-पास बंटता जाता है। अर्थात् सम्पत्ति का और प्रभुता का संग्रहीकरण श्रीर केन्द्रीकरण मानवता के विकास का लखण नहीं है, यह केन्द्रीकरण फिर व्यक्ति में न होकर दल में, संस्था में, राज्य में ही चाहे हों। इस अर्थ में सम्पत्ति को और अधिकार को उत्तरीत्तर विकेन्द्रित होते जाना होगा। विकेन्द्रित है, वही व्याप्त है। अर्थात् सम्पत्ति को और अधिकार को सब कहीं समान भाव से व्याप्त करते जाना होगा। राज्य में उसके केन्द्रित होने का मतलब व्यक्ति का उस और से हीन और वंचित होना ही है। व्यक्ति अपने को निर्धन और निर्धिकार अनुभव करे—इस रात और इस आधार पर खड़ा होनेवाला सम्पन्न और सर्वाधिकारी राज्य मानवता के विकास का नहीं, उसके दिवाले का ही द्योतक होगा।

लेख के 'पूर्वोदय' का यही मतलब है। उसका मतलब है, मनुष्य में नितिकता का उदय। उसमें से स्वार्थ का तिरोभाव और स्नेह का प्राद्धमांव। श्राकांचा का श्रिभिलापा में परिशामन, स्वार्थ का सेवा में उन्नयन श्रीर भोग की जगह त्याग-भाव की प्रतिष्ठा।

पश्चिम से जो एक आक्रामक जीवन-पद्धति की बाद ठेलकर हमारी श्रोर मेजी जा रही है, जो रवस्व श्रीर स्वामित्व की तृप्णा से श्रमीर-गरीव को, इस मत को श्रोर उस बाद को, धव को उफसा श्रीर भरमा रही है—मिवाय उस बाद के हाथ में नहीं है। वह ज्वर है जिसको शांत होना है। मानवता के स्वास्थ्य को वह बाद सदा के लिए जा न सकेगी। ज्वर चढ़ सकता है पर श्रन्त में उतरने के लिए। होने को एक युद्ध चाहे तो श्रीर होले—पर शस्त्रों का नशा एक दिन दूरेगा। एक दूसरे को नाश श्रीर परास्त करने के बजाय एक दिन परस्तर को सममने की श्रीर एक दूसरे के काम श्राने की श्रार जनमेगी। मनुष्य को मनुष्य होने से कोई, श्रीर कुछ, रोक न सकेगा। श्राज यह श्रद्धा मानुकता समभी जा सकती है, भोली श्रादशंगदिता समभी जा सकती है। श्रद्धा में सन्तुष्ट श्रीर श्रह्मारंभी जीवन विताने

वाले को तुच्छ श्रीर पिछड़ा हुश्रा समका जा सकता है। लेकिन श्राँधी जब धमेगी श्रीर विकार जब उतरेगा, तब जान पड़ेगा कि संतोप मृद-ता नहीं बल्कि मल्य-ता है, जबिक श्रार्थिक तृष्णा शुद्ध चोरी श्रीर हिंसा है। तब जान पड़ेगा कि जिसको जीवन का ऊंचा मान मानकर हम स्पृह्णीय गिनते श्राये थे वह पाप का कोरा एक भुलावा है।

मूल्य जब बदलेंगे, और देर-सबेर बदलना उनका अवश्यम्भावी है— जब वे वौद्धिक की जगह हार्दिक, कृत्रिम के बजाय प्रकृत, एवं स्वार्थसेवी की अपेचा सेवा-भावी होंगे, तब समय आयगा कि सवींदय आरम्म होगा। तब एक को अपना हित दूसरे के अहित में न दीख पड़ेगा। उस समय निश्चय ही पूरव के दंश, जो पिछुड़े समम्ते जाते हैं, आगे होंगे और आज की उन्नति महज तमाशा दीख पड़ेगी। वह काल कब आयगा—कहना कठिन है। पर वह नहीं आयगा तो प्रलय को ही आना होगा।

श्रफ्तोस यह है कि पूरव के देश विलायती प्रचार में भूलकर पास में निधि रहते भी अपने को कंगाल मान रहे और परमुखापेची बन रहे हैं। यह शोचनीय हालत जनता की उतनी नहीं है जितनी नेताश्रों की है। उन देशों की हकूमतें श्रपनी प्रतिभा और श्रास्मा के श्रनुसार वहां के समाज की रचना करने में नहीं लगी हैं, बल्कि विलायती देशों की नकल में पड़ी हैं। विलायतों को इसी से महत्त्व मिल रहा है श्रीर उनका अम टूटने में समय लग रहा है। पर पिछली दो क सदियों की बनी हुई वहां की सम्यता की इमारत इस तेजी से तहस-नहस हो रही है कि अम का श्रधिक काल पोसना संभव नहीं है। मानव-सम्बन्धों के तंतु छिन्न-मिल हो रहे हैं श्रीर वहां की सामाजिक संस्था संकट श्रीर विपत्-काल के नीचे गिरी जा रही हैं। केवल एक ढांचा है 'स्टेट' जिसके बल पर वहाँ का श्रस्तित्व कायम हैं, श्रीर व्यवस्था जैसा कुछ वहाँ दिखाई देता है। किन्तु स्टेट की बुनियाद में श्रहंता श्रीर श्रमुता है। विरोध में से वह पूर्वोदय ४%

श्रपने को सशक्त करती है, श्रीर इस तरह वह संस्था स्वयं श्रात्मधात की श्रीर बढ़ रही है।

क्या इम श्राशा करें कि जो मिनष्य नाना दुस्तंमावनाश्रों के बीच में से भी स्पष्ट श्रोर श्रमोघ होकर काँक रहा है, इमारे राजकाजी नेता लोग उसको देखेंगे श्रीर श्रपने को श्रमुक्ल दिशा में ढालने का प्रयत्न. करेंगे ?



# गाँधी जी

## निपट मानव गाँधी

गाँधी जी पर इतने लोगों ने इतना कुछ लिखा है कि नई बात कहने को रह नही जाती। उनकी हर घड़ी पर ऋख़वारों की निगाह है। वह तो खुली किताब हैं। कुछ उनमें नहीं, उनके पास नहीं, जो सबकी सम्पत्ति न हो। उनके जीवन में दुराव नहीं है। मीतर उनके गहरे में से जो उठता है कथनी और करनी में बाहर आकर वहीं सार्व-जनिक इतिहास की थाती बन जाता है।

फिर भी कीन उन्हें जानने का दावा कर सकता है १ धूप की तरह सब के आगे वह खुले और साफ हैं, पर अबूभ और अगम भी हैं। इसी से इतना जानकर भी गाँधी जी के बारे में और जानने की प्यास हुनिया की कभी नहीं बुभती। उनके नाम के साथ जुड़ी हर बात सिक्के की तरह हाथों हाथ चलकर भी कभी बासी और जूटी नहीं होती। हर तरह उन्नहें होने पर गाँधी जी एक रहस्य हैं, जिसे दुनिया कभी चुका न पायेगी।

पहले कहानियाँ हुन्ना करती थीं, जिनमें बड़े-बड़े दैत्य-दानबीं के आया किसी पत्ती या ऐसी ही किसी नीज़ में समाये रहते थे। यहाँ इसे तोड़ा कि वहाँ उनका ब्रम्त हुन्ना। ऐसे बड़े-बड़े बली जीवों को बात की बात में हजारों कोसों दूर से खतम कर दिया जाता था। यह बात निरी व्यर्थ न मान ली जाय। हर व्यक्तित्व की एक कुंजी है। श्रादमी

जो यों पहेली सा अनबूभ है उस कुन्नी से इल किये सवाल की तरह खुल रहता है।

श्रव दुनिया के हम-तुम प्राणियों के बारे में इस कुंजी को खोजने श्रीर पाने में बहुन कठिनाई नहीं श्रातीं। कोई हम में घन चाहता है, कोई मान, किन्ही को कीर्ति ही काफी होती है। कुछ की कामना कामिनी में है। मतलब हम संसारी लोगों की चाहें संसार के इस या उस तल में गड़ी हुई पाई जा सकती हैं। जहाँ जिसकी चाह है, वहीं उसकी थाह है। इस तरह श्रापस में एक-द्सरे को जॉचने श्रीर एक दूसरे का मान थिर करने में हमको दिक्कत नहीं होती।

सीधे तो संसार का ताना-बाना विचित्र लगता है। ग्रसंख्य श्रादिमयों की जिन्दगी के तार श्रापस में मिल-जुलकर, कट-वटकर क्या नमूना बुन रहे हैं, कुछ समभ नहीं श्राता। लगता है, उनकी गतियाँ भिन्न हैं श्रीर बिरोधी भी । पर मनस्तत्त्व-विज्ञानी बताते हैं कि वे गतियाँ न भिन्न हैं, न विरोधी हैं। सांतारिकों के बारे में श्रासानी से वे नियम प्रस्तुत कर सके हैं जो वता दंते हैं कि एक श्रादमी, श्रीर सब श्रादमी, क्यों श्रीर किन प्रेरणाश्चों के श्रधीन विविध वर्तन कर रहे हैं। पर कुछ लोग मानी नियमानसार नहीं होते हैं। विद्यान और शास्त्र उन्हें न देंक पाता न खोल पाता है । वैज्ञानिक प्रणालियों से उन्हें पाना असम्भव दोता है । इससे व्यक्ति से ज्यादा उन्हें घटना कहना होता है। उनकी कुंजी यहाँ द्वं दे महीं मिलती । उससे या तो लोगों को खीज क्षेती है, जिसे वे उस श्रादमी को मारकर पूरी करते हैं। या नहीं तो विस्मय में घुटनों गिरकर उसकी पूजा करते हैं। इससे दूसरा उनके किये बन नहीं पाता। तर्क का वह स्त्रोत ही उन्हें हाथ नहीं श्राता जो उस जीवन को श्रोर उस जीवन के करवीं को थामता हुन्ना कहा जा सके। ऐसे पुरुप त्र्यतर्क्य होते हैं त्रीर लोंक तत्काल तो अलौकिक कहकर उनसे अपनी छुट्टी मान लेता है. पीछे इतिहास में से फिर-फिरकर उनका आविष्कार करके अंगीकार करने की

कोशिश करता ह । गाँधी जी ऐसे ही अभागे पुरुषों में से मालूम होते हैं। उनकी कुंजी लाख खोजने पर भी दुनिया के हाथ नहीं चढ़ती।

गांधी जी ने एक बार कहा कि मेरा सब कुछ ले लो, में रहूँगा। हाथ काट लो, अंख-नाक उड़ा दो तब मी रहूँगा, सिर जाय तब मी कुछ, पल रह जाऊँ, पर ईश्वर गया है तबतो मैं उसी दम मरा हुआ हूँ। यह बात पढ़ने में चमत्कारी लगती है। पर क्या समक्त में भी वह वैंध कर बैठती है।

ईश्वर के मित्दर हो और उसकी पूजा हुआ करें यहाँ तक तो ठीक है। इससे आगे नित्य-प्रति के काम से सन्बन्ध रखनेवाली बुद्धि और तर्क की भाषा उस ईश्वर को अपने में कहाँ विठाये ? परिणाम यह कि जीवन-नीति, जो ईश्वर-पूर्वकता से आरम्भ होती है, गांधी जी तक सीरित जान पड़ती है। व्यवहार से गांधी जी की समाज-नीति अनिमल और असिद्ध लग आती है। उसमें तर्क का साफ सूत नहीं मिलता।

लोकिक के छोर गाँधी जो के बीच का यह मेर मौलिक है । किसी तरह के ऊपरी तर्क से उस मेद को उड़ा देना, पाट देना, खतरनाक हो सकता है । गांधी जी का छोर दुनिया का, गाँधी जी का छोर कांग्रेस का, सम्बन्ध पूरी तरह इस मूल भेद को स्वीकार छोर पहचान कर नहीं बना । छोर इससे कठिनाई उपस्थित होती रहती है ।

गाँधी जी के बारे में यह कहा जा सके कि यह व्यवहार के आदमी नहीं हैं तब तो सुश्किल ही हल हो जाती हैं। ऐसे बहुत लोगों को दुनिया जानती है जो वास्तव के बजाय स्थम में रहते हैं। आदश्यवादियों, सन्तों, कियों को प्राप्त में समाना और प्रचाना दुनिया के लिए किन नहीं होता। पीठ की ओर से भी वे दुनिया के अपने होते हैं। मुख्य भोग में भ्लते हैं तो शायद ये योग में भ्लना चाहते हैं। गांधी जी के बारे में वैसा समसने का सुभीता दुनिया के हादिजीकी लोगों को भिल सकें तो वे वन जायें। पर ऐसी सुविधा किसी ओर से उन्हें नहीं हो पाती। गांधी

जी कुछ हैं तो कर्मठ हैं। वस्तु के त्रेत्र में उनका प्रभाव श्रमोध है। टोस स्पया जो तमाम वास्तविकता का श्राज प्रतीक है उनके इशारे पर यहाँ से वहां होता रहता है। इस तरह गाँधी जी बौद्धिक के लिए एक चुनौती ही बने रहते हैं। उस बौद्धिक के बनाये शास्त्र श्रीर चलाये सब शब्दों के श्रागे गांधी जी मानों ऐसा प्रश्न-चिन्ह बनकर खड़े हो श्राते हैं कि हटाये नहीं हटते।

धर्मवादी और ईश्वरवादी, जो संसार को बन्धन मानकर उससे उत्तीर्ण होना चाहताहै, गाँधी जी की तरफ आशा-भरी निगाह से देखता है। कारण, वह बहुत श्रंशों में ऐसे उत्तीर्ण और मुक्त पुरुप प्रतीत होते हैं। पिवत्रों में वे पिवत्र हैं, श्रौर जितेन्द्रिय, श्रोर संयमी, श्रोर महात्मा। पर यही पिवत्रता का साधक उस समय गाँधी जी को नहीं समभ पाता जब वे राजनीति के प्रपंच में दीखते हैं श्रौर तरह तरह के कमें की विश्वट योजनाश्रों का संचालन करते हैं।

वूसरी श्रीर संसार में ( उसके सुधार में ) लगे हुए प्रकार-प्रकार के वादी श्रीर कमींजन इस कमंपय श्रीर प्रतापी पुरुप गाँधी को देखकर उत्साहित होते हैं। जो वल उसने प्राप्त किया, जो लोक-संग्रह वह कर पाया, उसको श्रद्धा श्रीर ईपन् ईपी से देखते हैं। जो सत्ता उन्हें इए है, गाँधी जी को वह सिद्ध है। लोकनायकों में इस तरह वह मूर्धन्य है। फिर भी राज को लेकर तरह-तरह के जितने तन्त्रवाद मिलते हैं, श्रीर समाज के निमित्त से नाना प्रकार के जो समाजवाद श्रीर साम्यवाद मिलते हैं, उतमें से किसी एक को लोडकर किसी दूसरे का समर्थन गांधी जी से नहीं मिलता। राज की दिशा में यह गांधी चाहता है तो 'राम-राज्य' चाहता है, जिसके तन्त्र को किसी वैज्ञानिक भाषा में नहीं रखा जा सकता। समाज चाहता है तो ऐसा कि जिसमें किसी की कोई सम्भावना नष्ट न हो श्रीर सब स्लेह से रहें। धन रहे, धनपित रहें; श्रम रहे श्रीर श्रमिक रहें। राजा हो श्रीर वह चाकर भी हो, चाकर हो श्रीर वह राजा से कम न हो। इस तरह की

अवैज्ञानिक और भाउक बातें जो किव को शोभा दें अर्थ-नीति और क्ट-नीति के संचालक और समाज-निर्माता पुरुप के लिये अटपटी लगती हैं। यह आदमी जो शासन और व्यवस्था की तरह-तरह की समस्याओं के वीच मुख्य सूत्रधार की भाँति धिरा रहता है, हर साँभ-सबेरे प्रार्थना में दोहराता है: 'यह संसार कागद की पुह्रिया…', 'यह संसार भाइ और भाँखह'। जो संसार और समाज प्रत्यच्च कर्मी के लिए एक और अकेंंगा इप्ट है वहीं संसार और समाज इस आदर्श (निष्काम) कर्मी के लिए अन्यवत् है। वे समाप्त ही चाहे होते हों, इस व्यक्ति को डिगने के लिए तब भी कारण नहीं है।

इस तरह जीवन के विभक्त दर्शनों के लिए, अध्यातमवाद और भीतिकवाद के लिये, गांधी एक ही साथ प्रश्न और समाधान हैं। राजनीति श्रीर धर्म में मेद है, उनमें विग्रह भी है। लेकिन गाँधी जी उन दोनों के श्रमेद हैं श्रीर संग्रह हैं। वह विभक्त जीवन-नीति जिससे संसार और संसार का इतिहास चला किया है और चला करता है, गाँधीजी उसके लिये एक संदेश हैं। वे सूचक हैं जीवन की श्रख्यडता के, उसके ऐक्य के। साथ ही वह जीवित उदाहरणा हैं इस सत्य के कि जीवन संयुक्त, समग्र और सिंख है तो वहाँ जहाँ वह निस्त है। श्रापने को उत्तरोत्तर सेवा द्वारा श्रत्य श्रीर प्रार्थना द्वारा लीन बनाते जाना ही परिपूर्णता पाने का साधना-मार्ग है।

इस मूल निष्ठा को पाकर फिर गाँधी जी का बस एक ही प्रयत्न रहा। वह यह कि वह अपने समूचेपन और तन को लेकर उस निष्ठा से तत्सम हो जायेँ। इस एक और अकेले सूत्र और मन्त्र के सहारे वह गांधी जो हर तरह हीन थे आज सर्वसम्मत रूप से जगत् के मुकुट-पुरुष हो गये हैं।

इस सूत्र को हाथ में लेकर फिर उन्होंने अपने को श्रीर अपनों की पूरी तरह छोड़ दिया। होना है जो हो। चिन्ता को अपने सिर रखनें-वाला मैं कौन १ क्यों संग्रह, और क्यों अर्जन ! चराचर जगत् की चलाने वाला जागता हुआ बैटा तो है, तब उसके आदेश को सुनते रहने और वैसा करते रहने से अलग मेरा काम ही क्या रह जाता है !

श्रीर इस नीति से चलकर कुछ विलज्जाताएँ श्रनायास गाँधी का स्वभाव बन श्रायीं। वे उन्हें सामान्यता से श्रलग कोटि में ले जाती हैं। जैसे—

- १—वह निर्ण्य तत्काल करते, तर्क पीछे पाते हैं। परिस्थितियों की श्रीर से श्रपने को नहीं समभाते। सीधे स्वधर्म के बारे में श्रम्यंतर से श्रादेश प्राप्त करके परिस्थितियों को तदनुकूल बनाने में लग जाते हैं।
- २—श्रौरों के लिए सोचना करने से बचना होता है। गाँधी जी के लिए सोचना ही करना है। सोचने श्रौर करने के बीच कोई अन्तराल नहीं श्रा पाता।
- ३—परिस्थितियों को उनसे उत्तर मिलता है। कारण, परिस्थितियों की माषा में वे कभी सोचते ही नहीं। परिणाम यह कि कोई परिस्थिति उन पर टिकती नहीं, उन्हें बेरती नहीं श्रीर वे सदा गतिशील हैं।
- ४—- स्रशक्य शब्द उनके कीष में रह नहीं जाता, क्योंकि स्रादमी के हाथ धर्म स्रोद तदनुसार कर्म ही है, फल नहीं।
- ५—कर्म की सीमा है। उस सीमा को संकल्प पर क्यों लिया जाय ? इसलिए सत्संकल्प को कभी ढीला करने, उसमें विकार या आरोप लाने का अवसर ही नहीं है।

मूल श्रद्धा की इस भूमिका से त्रारम्भ करके, निरन्तर श्रम्यास श्रीर साधना के सहारे, एक ऐसी श्रगमता श्रीर श्रविगता उन्होंने प्राप्त कर ली है जो बड़े-से-बड़े संकट में उनका साथ नहीं छोड़ती। मनुष्य में से उनका विश्वास कुछ या कोई नहीं तोड़ पाता। चारों श्रोर छल कपट है, मारबाड़ है, लूट-खरोट है, उसका बर्यर-से-बबंद रूप सामने है, फिर

भी उस ग्रादभी को गांधी जी इस कोशिश में छोड़ नहीं सकते कि उसमें के असली (दैवी) मनुष्य को वे जगा सकेंगे।

इस तरह इस दुनिया में रहकर गांधी जी मानो सदा परीका में हैं श्रीर उनके हाथों में राजनीति भी सदा परीचा में है। श्राज तो परीचा विकट है। अब भारत और पाकिस्तान दो ग्रालग राज्य हैं और ब्रिटिश राष्ट्र-परिवार के ऋंग हैं। ऐसा जब हो ही गया तो उस पर सोच-विचार करना वेकार है। वैसा राजी से हुआ। दोनों राजनैतिक पार्टियाँ, लाचार होकर ही सही, ब्रिटेन के साथ उस विभाजन को मानने को राजी हुईं। उसके बाद जो हुआ उसकी भयंकरता जताने को शब्द नहीं मिलते । आग ऐसी जली कि सदियों के सम्बन्ध स्वाहा हो गये । थैर ग्रीर बदला धर्म वन ग्राया। दुनिया का धर्म तात्विक तो नहीं ही सकता: उसे तो तात्कालिक होना पड़ता है। इससे शास्त्रों की सीधी उपदेश की बातें उसके लिए श्रमंगत होती हैं। इस तत्काल-धर्म का श्रालग ही शास्त्र होता है। श्रीर क्या श्रानगिनत शरवीर, नेता श्रीर नायक नहीं हो गये जो शस्त्र लेकर रख में जूफी हैं स्रीर इतिहास ने, काव्य ने, नाना महिमाश्रों से जिनको मियडत किया है। यह स्नाग स्रव भी अतीत की नहीं बन गई है, बुक्ती अभी नहीं है, जल ही रही है, श्रीर गांधी जी उसके बीच में हैं।

श्रीर दुनिया की क्या हालत है ? किसी श्रखबार का कोई कोना काफी है कि उस बारे में श्रापक भ्रम को तोड़ दें। मानो बेबस देग से यह चली जा रही है विस्फोट के मुँह में। राजनेता, जो समभते हैं कि वे दुनिया को चला रहे हैं, भीतर सन्देह, भय, ईर्क्या श्रीर बैर को पोस रहे हैं। मानो चारों तरफ बारूद भरी है जो ममकने भी लगी है। वस ली का इन्तजार है कि कब मक से मड़क उठे। 'एटम-बम' के जमाने में तैयारी की बात क्या की जाय ? 'एटम-बम' है, तो उसके श्रास-पास हाइड्रोजनः बम जैसी मिलती-जुलती दूसरी ईजादें भी तो कम नहीं हैं! इसके मुक्ताबले दूसरी तरफ आधी से ज्यादा दुनिया में घन का दिवाला है और नाज का अकाल है। मुल्क हैं जो साहूकार हैं और अनाज से भरे-पूरे हैं। पर यही मौक्ता क्या व्यवसाय के लिए भी अच्यूक नहीं है ?—वह व्यवसाय जो सहायता को धर्म समभता है, साथ ही सीदे को अधर्म नहीं समभता !

दुनिया की और देश की ऐसी हालत की मुलस के बीचों-बीच गाँधी जी बैठे हैं। अहिंसा उनका धर्म है, दर्शन है, नीति है, सब कुछ है। लेकिन यह अहिंसा उस दुनिया के लिए है, जो हिंसा से काम लेती आई है। जिसका ईमान अब भी हिंसा में है, जो धर्म और कर्तव्य की राह से हिंसा में पहुँचती है, जो बहादुरी और पराक्रम उसी में देखती है, जो समभती है कि अहिंसा सिर्फ जीवन की चुनौती से बचना ओर भागना है। रिथित इतनी विपम है कि अहिंसा कुछ बैसा ही हिकारत और मजाक का शब्द बन गया है जैसे कभी 'नात्सी' और 'फासिस्ट' शब्द बन गये थे!

वह सब ठीक, लेकिन गाँधी तो गांधी ही हैं। इतना ही नहीं कि वह डिगेंगे नहीं, डिगे नहीं हैं; विल्क यह भी कि किन्हीं भी परिस्थितियों में वह अपने को अनुपयुक्त न होने देंगे, न कभी हारेंगे।

ग्राज परीचा है। उससे जैसे सारी राजनीति को श्रागे राह मिलेगी। कसीटी पर मानो यह प्रश्न है कि हकूमत को क्या यह श्रिषकार है कि वह जनता पर श्रपने मन का या मत का सांचा डाले ? या कि राज्य का धर्म है कि जनता को ग्रपने विविध मत, जाित, विधि श्रीर वर्ग के मेद के साथ ज्यों-का-त्यों स्वीकार करे ? शासन प्रजानुसारी होगा कि राज्यानुकूल ? यह । प्रश्न मिवप्य के लिए अत्यन्त गम्भीर है। उसको इस रूप में रखा जा सकता है कि क्या राज्य (स्टेट) या सत्ता के ऊपर कुछ श्रंकुश है, या नहीं है ? है, तो क्या वह श्रंकुश स्वयं वह प्रजा ही नहीं है, जिसका प्रवंध श्रीर शासन का दायित्व वह राज्य लेता है ? पाकिस्तान श्रीर भारत के बीच नाष्ट्रह त का सिद्धांत जो कसोटी पर चढ़ा हुशा है उससे मानो श्रागे के

लिए हमें यह निर्णय भी प्राप्त हो जायगा कि क्या कोई स्टेट (Theocratic) मतवादी हो सकती है ! साथ ही इस प्रश्न का भी निवटारा हो जायगा कि मत श्रीर विचार की एकता अनिवार्य (Totalitarian) होकर किसी राज्य के लिए क्या वैध और जायज़ टहराई जा सकती है !

त्राज तो मानो तंत्र के श्रीर जन के बीच लड़ाई है। तंत्र के लिए जन को रहना होगा श्रीर भोंका जायगा र या जन के लिए तंत्र को बनना होगा, नहीं तो मिटना होगा र इसका निपटारा होना है।

गाँधी जी किसी सरकार के प्रतिनिधि नहीं हैं। यह तिनक भी सरकारी नहीं हैं। फोज नहीं, पुलिस नहीं—सत्ता का कोई चिन्ह नहीं। वह निरीह जन के प्रतिनिधि हैं, उसी के प्रतीक हैं। सच में तो इस या उस, कांग्रेसी या पाकिस्तानी, या हिन्दू या श्रंग्रेज़ी हकूमत की प्रतिष्ठा से उनको वास्ता नहीं है। वह तो सब सरकारों में, श्रोर ज़रूरत होने पर उन सरकारों के विरोध श्रोर प्रतिरोध में, जन की श्रोर श्रम की प्रतिष्ठा करना चाहते हैं। यह उनका काम शांति का समभा जाय या कांति का समभा जाय, एक ख्रा के लिए भी नहीं ककता है। श्रोर यह काम वह राम का काम समभ कर करते हैं। धानी वह निरा राष्ट्रीय नहीं है, ऐहिक श्रोर सामयिक नहीं है; बहिक मानवीय, श्राध्यातिमक श्रीर चिरंतन हैं।



### संयुक्त मानव

श्रास्तिक के लिए श्रवतार के होने में विश्वास करना सहज है। वह भानता है कि यहाँ ईश्वर का चाहा होता है, इससे कर्तृत्व सब उसी का है। श्रादमी तो साधन भर है, मगवान के श्रादेश का पालन उसका काम है। उस श्रथ में हम सभी उसके मेजे यहाँ हैं। जो यहां श्रपने मन-बुद्धि-कर्म को पूरी तरह उसे सौंपकर स्वयं श्रत्य बने, उसके लिए श्रवतार से दूसरा क्या विशेषण श्रास्तिक के पास हो ?

गांधी ऐसे ही पुरुष थे। प्रतीक की भाषा में नहीं, विज्ञान की भाषा में उन्हें श्रवतार कहना होता है। उनकी साधना महान् श्रथवा गुणवान श्रादि वनने की नहीं थी। वह निगु ण, श्रिकंचन श्रीर एकदम शूत्य होने के प्रयत्न में रहे। इस कोशिश में श्रगुभर भी उन्होंने श्रपने को नहीं बचाया। साधना के इस रूप को ऐहिक बुद्धि से समभना श्रसम्भव है। भिक्त ही उस मर्भ को पा सकती है। ऐसी भीगी-भिक्त में श्रपने को लीन करने की सतत चेष्टा करने वाला पुरुप श्रनायास फिर कैसे श्रन्तर्राष्ट्रीय राजनीति में श्रानिवार्य श्रीर श्रदम्य बन उठा, यह किसी भी श्रीर तरह समभ में नहीं श्रा सकता। गांधी उस बुद्धि के लिए सदा पहेली रहेंगे, जो जगत् को जगदाधार के बिना समभती है। श्रन्यथा गांधी द्वीत से श्रस्त जगत् के श्राय का एक समन्वत समाधान है।

गाँधीजी का काम ईश्वर का काम था। यानी आत्म-शुद्धि का काम था। जीते रहे तबतक उसमें एक बाधा थी, वह बाधा थी शारीर। शारीर रहते वह पूरी तरह शून्य कैसे बनते ? उनका संदेश तब तक श्रध्रा था। कैसे जीना, यह तो वह बता सके; पर मरना कैसे, यह भी तो उन्हें बताना था। जीने से मरने तक की प्रीजीवन-मीति का चित्र उन्हें इस दुनिया को दे जाना था। यह बाधा इस तीस जनवरी को उनसे दूर हो गई। उनका काम भी तब एक संपूर्णता को श्रा गया। जीवन यह है श्रीर मृत्यु को भी यह के रूप में ही झाना है। मृत्यु जीवन के अनुरूप ही एक बिलदान हो। तमाम जीवन ही बिल है। श्रध्यं की भाँति वह पवित्र हो श्रीर कृतार्थं माव से उसको होम दिया जाय, यही है सच्ची जीवन-पद्धति। गांधी-जीवन श्रीर गांधी-मृत्यु उसी सी सचित्र व्याख्या है।

जीते वक्त अवसर या कि हिन्दुस्तान उन्हें भ्रपना नेता कहे; देवदास पिता कहे श्रीर कुछ लोग अपने को उनके पास श्रीर दूसरे बहुतेरे श्रपने को उनसे दूर मानें, कुछ अपना उनपर अधिकार मा , दूसरे अपने को वंचित मानें, कुछ सीभाग्यशाली बनें कि वे गाँधीजी के नजदीक हुए, तों कुछ श्रीर खुद को मन्दभागी माने कि वे गाँधीजी के पास तक न पहुँच पाए । इस तरह दूर-पास. श्रपने-पराये के दायरों से उनकी मुक्ति न थी। पर वह तो एक के होकर सबके बनना चाहते थे। दुनिया के न रह जायँ इस कीमत पर उन्हें हिन्द का या हिन्द का नहीं रहना था। विभेद में से अभेद उन्हें पा लेना था। लेकिन उस अभेद में जीनेवाले को विभेद घेरता ही था। इसका उपाय यही था कि ऋन्तिम बाधा देह गिरे श्रीर शूत्य में मिलकर वह एक ही साथ सबको समान भाव से सलभ बन जाय । श्रब हिन्द , कांग्रेसी या हिन्दुस्तानी इत्यादि कोई विशेषण उन्हें छू श्रीर पा नहीं सकता। किसी के गर्ब को उनका सहारा नहीं हो सकता, न किसी के लिए उनसे निराशा का बहाना। गांधी जी आज केवल प्रकाश और ब्यादर्श के रूप में सामने हैं और वह उन्हीं के हैं जी उन्हें श्रपने श्रन्दर लेने को ततार हैं।

इस अखगडता से अलग गांधी जी के महत्त्व को समभाने की मेरी इच्छा नहीं है। कर्म में गांधी विविध हैं और बुद्धि-मेद कें लिए मौका छोड़ते हैं। सत्य ही ईश्वर, प्राप्त रूप में वही ग्रहिंसा—इस दो शब्द की पिरापा वाली ग्रानन्य निष्ठा से ग्रागे चलकर उनका ग्रानंत लीला-मय जीवन हमको प्राप्त होता है। वह चमत्कृत कर देता है। उस जीवन का ग्रानुकरण नहीं हो सकता। वह गाँधी के साथ इतना विशिष्ट है कि इतिहास में किसी भी भाँति दोहराया नहीं जा सकता। लेकिन जो सवें सामान्य है, सब काल ग्रार सब भूमि के लिए है, सबके लिए सहज ग्रार सुलभ है, वह है उनकी सत्यनिष्ठा ग्रार ग्राहिंसक तत्परता।

हर श्रादमी की श्रपनी परिस्थित श्रीर श्रपनी भूमिका है। धर्मनिष्ठा का प्रयोग भी वहाँ जो होगा दूसरी किसी परिस्थित श्रथवा व्यक्ति के लिए उपयुक्त न ठहरेगा। इस तरह एकमेव ईश्वर-निष्ठा से इस ब्रह्मायड के श्रमन्तानन्त व्यापार चल सकते हैं श्रीर उन सबके विभिन्न स्वरों ते एक ऐसे समवेत संगीत का स्वर अंकृत हो सकता है कि सूर्य-ग्रह-नच्नश्र-तारा मंदल सब मुग्ध हो जाय। इसके विपरीत व्यक्ति की निजता से, उनकी श्रपनी-श्रपनी स्वार्थ-भावना से, जगत् का कर्म-चक्र चलता हो तब संघर्ष श्रीर संघात का तायहब मच उठे; हर दस-बीस साल बाद महासंहार की लीला श्रमिवार्य हो उठे; लोग डरते श्रीर डराते हुए जीयें श्रीर इस डर के तले श्रपने को दलों में जुटाकर दूसरे का है प श्रीर वैर पोसें—तो इसमें श्रवरण क्या!

गांधी को उसी मनोलोक का, सतयुग का या भागवर्म्मि का वासी कहना होगा जो कोलाहल में संगीत जगाता है, बुराई में से भलाई उप-जाता है, जड़ को चेतन करता है और संघर्ष में से सहयोग जुटाता है।

ं तो क्या कभी सचमुच रामराज्य होगा ! क्या ऐसा कभी होगा कि राजा वही हो जो सबका चाकर हो श्रीर प्रजा का हर श्रादमी श्रानुभव करे कि वह मालिक श्रीर राजा दास है ! कि श्रीसत श्रादमी इतना स्वस्थ श्रीर समर्थ हो कि दूसरे के स्तेह में श्रापने को समाने की ही सोचे, उससे श्रपना स्वार्थ साधने की तनिक भी न सोचे ! कि, संदोप में, राजा श्रीर राज्य हो ही नहों, सब श्रमी हों श्रौर स्नेही हों, श्रौर इस तरह से सब एक-दूसरे के प्रोरक श्रौर स्वावलम्बी हों !

वह समय श्रायेगा कि नहीं श्रायेगा, पर गांधी तो जैसे उसी में जिया। जैसे वह श्रपना काल श्रोर श्रपना लोक साथ लेकर धरती पर श्राया। स्वप्न ही उसने यथार्थ किया। श्रपनी महापराक्रमशील श्रद्धा से जिस यथार्थ को उसने हुआ, वही उसके स्वप्न की सत्यता श्रीर शोभा से उज्ज्वल श्रीर मोहक बन श्राया।

श्रापु-शक्ति का यह युग है। यानी पदार्थ में की गृद शक्ति का हमने उद्घाटन कर लिया है। उस पदार्थ को इस श्रातश्यता से उत्पन्त करना हम सीख गये हैं कि उस श्रातश्यता के जोर से मनुष्य की सारी चिन्ता को हमने पदार्थ विषयक बना डाला है। विज्ञान ने हमें मशीन दी, मशीन ने श्रावकाश दिया, श्रीर श्रवकाश ने हमारी श्राकांचा श्रीर कल्पना को उत्तेजना दी। परिखाम में शास्त्रों का शास्त्र बना राजनीति-शास्त्र, श्रीर देवों का देवाधिदेव स्टेट, श्रीर मनुष्य की सारी बुद्धि इस शास्त्र श्रीर इस नवीन देवता की श्राचां में सुक गई।

इस नवाविष्कार के नव प्रमत्त युग में, जब मनुष्य के पास बुद्धि खूब हो गई है, तब मालूम हुआ है कि ईरवर नहीं रह गया है। अझा श्रंधी ही तो है जो आस्तिक होती है। वह तस्व को खोलती नहीं, देंकती है। अतः अपने मानव-गर्व को हाथ में लेकर सब तहों को तर्क से एक-एक करकें चीरकर और छीलकर, हमें अन्दर के तत्त्व को पा लेना और प्रतिष्ठित कर देना है। ऐसे ही व्यवस्था आयेगी, प्रजुरता आयेगी और मुख आयेगा!

जब सम्यता इस दिशा में सरपट सिंदमों से चली श्रा रही थी, तब गांधी एक बड़े प्रश्न चिन्ह की तरह श्रा प्रकटा । उस सरपट चाल में गांधी के कारण एकाएक स्तब्धता श्रा गई श्रोर श्रव यद्यपि पैरों की गति मानवता को उसी तरफ लिए जा रही है, फिर मी मन में उसके खलवली है श्रीर मानवता जैसे ठगी श्रीर ठिठकी-सी उधर चल रही है। विश्व का राज-करण गड़-गड़ाता हुआ, यद्यपि लड़-खड़ाता हुआ, अभी तक शस्त्रीकरण और अगु वमों के निर्माण में से अपनी राह बूफ रहा है। निश्चय शस्त्रास्त्र के मुँह में युद्ध है। लेकिन राज-नेताओं के और उनके राजकरण के अंतर में, जहाँ मानव-सामान्य का हृदय निवास करता है उस बहुसंख्य जनता में, गहरा संशय घर कर गथा है। जान पड़ता है उस सम्यता, यानी राजनीतिक सम्यता, की यह आखिरी चमक है और उसे अब सदा को चुफ रहना है। एक नये अग का सूत्रपात होनेवाला है और गाँधी का बिलदान उसी का बीजारोपण है। उसका मर्त्य जीवन यदि समाप्त हुआ है तो इसीलिए कि मानवता के आगामी विकास में बह अमर हो उठे। गाँधी से एक काल का अवसान और दूसरे कल्प का उदयारम्भ होता है। उसको कहें: सर्वोदय कल्प।

मानव-व्यापार में अब तक एक असिद्धि देखने में आती थी। जैसे वह सूत्र हाथ न आता था, जो विभक्त मानव को संयुक्त कर दे। व्यक्ति के प्रकट कार्य-कलाप में और उसी की अव्यक्त आकांद्धा में विग्रह और विरोध रहता था। हर व्यक्ति अपने अन्दर मानसिक द्वन्द्व लिए चलता था। समूह रूप में वही विग्रह धन और जन का, शासक-शासित का, पूंजी-अम का, यानी दल, राष्ट्र अथवा श्रेणी-विग्रह का रूप लेता था। इस विग्रह-विरोध को खतम करने के लिए जो उत्कट और अनिवार्य प्रयस्त हुए, देखा गया कि वे इस या उस मत (यानी व्यक्ति) की अधिनायकता (Ideological, i.e, Dictatorial Totalitarianism) में निष्यन्त होते हैं। फिर एक का नाम कम्युनिक्त है और वृसरे का नाम फासिक्स या नाजीक्स, यह भाषा की ही बात है। अन्तर्विरोधों को हठात् बाहर से मिटाने के इन कृतिम प्रयत्नों से हालत सुधरी नहीं, समस्या और विषम ही ही आई, अभीष्ट और दूर ही जाता दिखाई दिया। सहसा प्रतीत होता था कि व्यक्ति जो व्यक्ति का शोषण करता है, और समूह-समूह का, सो सबका एक-सा भला चाहने और करने की नीति पर खड़ी की जानेवाली संस्था, यानी स्टेट, सब साधनों को कब्जे में

करके श्रीर विज्ञान के सब श्राविष्कारों की मदद से, सभी व्यक्तियों श्रीर वर्गों के ऊपर होकर, जरूर स्वर्ग धरती पर उतार ला सकेगी। पर वैसा न हुश्रा श्रीर स्टेट स्वयं श्रादमी के रच्चण से अधिक श्रादमी का मच्चण कर निकली।

हिसाब तो साफ़ श्रीर सीधा था। पर परिग्राम में उलक्तें बढ़ श्राईं। पहले बिलासी श्रीर श्रहंकारी लोग ये श्रीर वे हाकिम वने हुए ये; सोचा कि व्यवस्था-बुद्धिवाले बौद्धिक जन हकूमत के मुँह पर होंगे, तब स्थापित स्वार्थों से पैदाहोने बाली दिक्कतें रह न जायेंगी, सारे जीवन का राष्ट्रीयकरण होगा, श्रीर इस तरह समस्याएँ काफूर हो जायेंगी!

वह हिसाब सही उतरा नहीं है। जिन मशीनों को धड़ाधड़ मानव के लिए भोग्य श्रीर उपभोग्य सामग्री पैदा करना था, उन्हें श्रस्त-शस्त्र बनाने में लगना पड़ा, जान पहले बचे, तब तो श्रीर सामान बनाने की सोचें! ऐसे जब भोग की प्रचुरता सामने थी तभी श्रपनी रच्चा का सवाल घिर श्राया। उन्नित करते जाने में हम उससे दुगुनी जो तुरमनी पैदा करते जाते हैं, उसका पता न रहता था। लेकिन ऐन वक्त पर वह बीज सामने श्रा गई।

परिणाम यह है कि धन जितना बढ़ा है, दीनता भी उतनी ही बढ़ी है। उतनित उतनी ही हुई है जितना वैर श्रीर हथियार बढ़े हैं। निश्चय ही हम दैन्य श्रीर वैर बढ़ाने के लिए उधर नहीं चले थे। क्या पिछली दो लड़ाइयाँ इसीलिए नहीं लड़ी गई थीं कि लड़ाई का श्रन्त होगा श्रीर सुख चैन का रास्ता खुलेगा ? युद्ध में हजारों-लाखों का मारना ऐसा ही तो नहीं है, जैसा कसाईखाने में जानवरों का जिबह करना। नहीं, उसमें विशेषता है। लोग तब सिर्फ मारते नहीं हैं, बिल्क श्रपने लेखे पुरूप का काम करते हैं। मानों सिर्फ कर्तव्य की राह की बाधा को वे हटाते हैं। यानी एक श्रादर्श महत् भावना के सहारे ही युद्ध लड़ा जाता है। इस तरह एक बड़ा साहित्य श्रीर एक लम्बी परम्परा बन गई है जो युद्ध की हिंसा

को चित्ताकर्पक बनाती है। वहाँ मारने को वीरता श्रोर मारते हुए मरने को श्रमरता कहा जाता है। ऐसे महत् गर्व के भाव से लोग सामने वाले को दुश्मन कहकर एक-दूसरे का गला काटने का काम करते रहते हैं।

ज़रूर उस हिसाव में चूक है। जरूर वहाँ कुछ छुद्म और छुल है, जहाँ एक-दूसरे की हत्या धर्म बन जाती है। वह छुल कहाँ है, पकड़ में न आता था। धार्मिक जन थे और धर्मशास्त्र थे, पर वे तो सिद्धान्त की दुनिया के लिए थे। काम-काज की और मेरे-तेरे की दुनिया में वे वेकार साबित होते थे। सन्त इस तरह स्वतन्त्र था कि वन में या कुटिया में सन्त बना रहे और शास्त्रों का भी अवसर था कि स्वर्गिक सिद्धान्तों की अर्थाचीन व्याख्या से वे भरे-पूरे रहें। जैसे असल जगत् उनसे अञ्चला था और उसके अलग नियम थे।

गाँधी ऐसे समय सिद्धान्त में से नहीं, ठेट व्यवहार में से आर्विभूत हुआ। वह दैरिस्टर था और मामले-मुक्तदमें निपटाता था। उसकी व्यवहार की अनोखी सफलता ही गतानुगतिता को चुनौती बनी। उसने बताया कि साधन नहीं है मिन्न साध्य से, और एकता लाने के लिए विमह की या सुरत्वा लाने के लिए हिंसा को राह नहीं चलना होगा। कल जो हम चाहते हैं, आज उसी के बीज हमें बोने होंगे। एक अनेक से अलग नहीं है, इसलिए समाज के सुधार या परिवर्तन के लिए, अपने सुधार-परिवर्तन से शुरू करना होगा। दूमरा वही है जो में हूँ, इसलिए अपने सुधार-परिवर्तन से शुरू करना होगा। दूमरा वही है जो में हूँ, इसलिए अपनी इज्जत के लिए दूसरे की इज्जत करनी होगी। अपने मत के लिए दूसरे के मत की रत्वा करनी होगी। परिवर्तन आयेगा तो बाहर से नहीं, सब के अन्दर से वह आयेगा। इसलिए असल परिवर्तन हृदय में और हृदय का होना है। और वह किसी संख्या के, शस्त्र के या मत के बल से नहीं होगा, आत्मा के बल से होगा; यानी कष्ट-सहन और त्वाम की शक्त से होगा।

वातें ये नई न थीं। आचीनता जितनी पवित्र स्त्रीर सुन्दर थीं। सिद्धान्त के समान वे शुक्र थीं। लेकिन गाँधी ने ऋपने रक्त से उन्हें त्रॉगारे की तरह लाल बनाया। घड़कते दिल की तरह वे हरेक में जा बैटीं। उनकी सचाई की साख सब के अन्दर से आप ही जग आई। परिशाम यह कि सीधे-सादे हाड़-माँस के लोग गाँधी के स्पर्श से ऐसी ऊँचाई तक उठ आये कि पीछे स्वयं उनको ही विश्वास न होता था। एक समूचे देश ने गाँधी के जादू के नीचे शान्त रहकर एक जवरदस्त साम्राज्य को जीता और आज़ादी पाई। सावित हुआ कि आदमी में कितनी भी दुवंलता हो, बवंरता भी हो, लेकिन गहराई में उसके देवत्व भी पड़ा हुआ है।

परम मूल्यों श्रीर श्रृ व सिद्धान्तों का गाँधी के हाथों यह जीवित पुर-स्कार, श्रीर संवर्ष की राजनीति में धर्म की नीति का यह सफल प्रयोग, बीसवीं सदी की दुनिया के लिए श्रनोखा है। उसने एक वार उस खाई को पाट दिया जो धर्म श्रीर कर्म को श्रलग रखे हुए थी। व्यवहार ही श्रध्यात्म का चेत्र बना श्रीर राजनीतिक शास्त्र में राम-राज्य के श्रादर्श की प्रतिष्ठा हुई। भारत-जैसे महादेश की सिक्य राष्ट्रनीति को चलाते हुए भी उन्होंने रामराज्य की टेक रखी। रामराज्य, राजशाही या लोकशाही श्रादि कुछ भी नहीं है। वह तन्त्र बद्ध नहीं है। उस राज्य के श्रर्थ को यहाँ तक खींचा जा सकता है कि वह राज्य-जैसा रहे ही नहीं।

इस तरह गाँधी राज-कारण को चलते हुए भी संगठित श्रीर केन्द्रित सत्ता, यानी स्टेट, को बिकेन्द्रित भी करते गये। सत्ता की श्रपेत्ता व्यक्ति को उन्होंने श्रिषक ही महत्व दिया श्रीर कहा कि तुक्मत की सफलता इसमें है कि वह रहे ही नहीं। उस जीवन-कम को उन्होंने घटित करके बताया, जहाँ श्रात्यन्तिक व्यवस्था रहती है, फिर भी श्रलरा से कोई व्यवस्थापक श्रावश्यक नहीं होता। श्रादर्श समाज स्वयं श्रपने भीतर से नियमित होगा, बाहरी नियामक इसके लिये श्रानावश्यक ही रहेगा।

गाँभी जी संज्ञेप में उस जीवन-नीति के मूर्त बदाहरण हैं, जिस पर

व्यक्ति ख्रोर समाज का ख्रागामी निर्माण होगा। उस नीति के कुछ ये सूत्र बन सकते हैं:--

- (१) त्रावश्यक है कि व्यक्ति का बाह्यकर्म उसके श्रन्तः करण से दूरा हुशा न हो । प्रेरणा उत्तरोत्तर व्यक्ति को श्राने श्रन्तरतम से प्राप्त करनी चाहिए । व्यक्ति के श्रन्तरतम में ईश्वर का निवास है । इसलिए जो वहाँ से श्राना ऋदिश स्रोर नियम प्राप्त करता है वह सतत कर्मी होकर सर्वथा निर्लिप्त बनता है श्रोर इस तरह उसका स्वल्र-कर्म श्रातुल फल देता है ।
- (२) इन्द्रियों को बुद्धि में, बुद्धि को मन में, मन को आत्मा में युक्त करके जो विराजता है, वह जगत् को आप्त करता है।
- (३) सत्य ही एक है, इसिलए अपने से शेप के प्रति व्यक्ति का सम्बन्ध अहिंसा का ही हा सकता है। ऐसे ही सत्य का साम्रात्कार सम्भव है।
- (४) तत्पर ऋहिंसा यानी सिकय सेवा विना सिद्धि नहीं। मिक्ति इसी सकर्मक रूप में उपलब्धि बनती है।
- (४) मनुष्य जैसे भोजन बिना नहीं जी सकता, वैसे ही अम बिना उसे जीने का हक नहीं ऋाता। अम से वह भोजन-वसन ले। यह अम सेवामय और यज्ञार्थ ही हो सकता है। ऐसा न करके जो लेता है, वह वोरी करता है।
- (६) मानव-सम्बन्ध श्रिहिंसा पर बनेंगे तो उनके बीच अम का श्रीर अम के फल का आदान-प्रदान जहाँ तक हो सीधा और सुलभ होगा। उपज ओर खपत के बीच विनिमय के माध्यम के तौर पर श्रेणी को और सिक्के को आने की कम-से-कम आवश्यकता होनी चाहिए।
- (७) समाज की रीद़ है उत्पादक श्रमिक। पदार्थ का सच्चा मालिक मी वही है। शेष उसके बाद स्नाते हैं। इस तरह व्यवस्थापक

श्रीर हाकिम बोभा हैं, जिनको शनै:-शनः हटना श्रीर स्वयं श्रमिक वनना है।

- ( ः ) प्रकट हिंसा ऋन्दर के द्वेप श्रीर वैर श्रादि का परिगाम है। व्यक्तियों, श्रेणियों श्रीर समूहों में विग्रह श्रीर प्रतिस्पर्धा का सम्बन्ध भ्रान्त है। उस श्राधार पर प्राप्त किया गया कोई परिवर्तन श्रुम श्रीर स्थायी नहीं हो सकता।
- ( 8.) श्रनीति श्रौर ऋषर्म से युद्ध ठानना ही जीवन की प्रगति है। श्रनीति से नैतिक होकर श्रौर ऋषर्म से धार्मिक होकर ही सामना किया जा सकता। उसका उपाय है, श्रापसी विचार-विनिमय, कष्ट-सहन श्रोर फिर श्रावश्यक होने पर श्रसहयोग श्रौर सत्याग्रह।
- (१०) दूसरे को कष्ट देकर उसे बदला नहीं जा सकता। कष्ट सह कर ही उसमें हृदय परिवर्तन लाया जा सकता है। क्योंकि अन्त में बह मुफ्तेंस भिन्न नहीं है, इससे मेरी सच्ची व्यथा उसे छुए बिना न रहेगी। फिर भी वह काम राम का है और अपनी व्यथा में से में अपनी शान्ति पाता हूँ, यही मेरे निकट उपलिब्ध है। उपवास इसी आत्म-पीड़न की धर्म-नीत का एक रूप है।
- (११) भाषा, भूगोल, रीति-नीति, स्राचार-व्यवहार स्रादि से हमारे बीच स्नन्तर पड़े हुए हैं, उनको मान देकर भी हमें स्रविचलित श्रदा रखनी चाहिए कि सन हम एक ही कुटम्ब के हैं झोर सब श्रपनी श्रपनी भाषा ख्रोर धर्मों के द्वारा एक ही भगवान् को पूजते हैं। जीना-मरना भगवान् की इच्छा से होता है; इससे मृत्यु को हिसाब में लाकर सीधे से टेढ़े हम नहीं जा सकते। मृत्यु तो मित्र बनकर स्नाती है ख्रोर उसे हँसते हुए भेंटना है।
- (१२) फंफरें ज्यादातर नासमभी से होती हैं। इससे धीरज श्रीर दूसरे में विश्वास नहीं खोना है। विश्वास रखने से व्यक्ति विश्वस-नीय बनता है। श्रीर ऐसे कोई ठगाया भी जाय तो हानि नहीं है।

संयुक्त व्यक्तित्व का साधन-सूत्र सिंदयों से खोजा जा रहा है। मारत में जिसे योग-साधना कहें, वह यही व्यक्तित्व का एकीकरण है। मानस-शास्त्री ग्रामास पाते रहे हैं कि व्यक्तित्व ग्रागर ग्रपने में पूरी तरह गठ जाय तो उसमें से कितनी न विराट् शक्ति प्रस्कुटित होनी चाहिए। श्रणु के ग्रन्तमेंदन से जो शक्ति ग्राज प्राप्त कर ली गई है, वैज्ञानिकों को कई पीढ़ियों से उसका ग्रनुमान था। विमक्त श्रणु (Split Atom) की संयुक्त-मानव की तुलना में विसात ही क्या है! मेरा मानना है कि हस सम्पूर्ण एकीकरण (Integration) का व्योरवार विज्ञान शोधक को गाँधीजी के जीवन-प्रयोग से प्राप्त हो जायगा। उनकी वाणी श्रोर लेखनी में उसकी टीका भी पूरी मिल जाती है। सत्य का यह समग्र भीर वैज्ञानिक प्रयोग एक ऐसा चमत्कारपूर्ण श्राविष्कार है कि उसके प्रकाश ग्रीर परिणाम में सहस्राब्दियों तक ग्राविकार शास्त्र, साहित्य, श्रीर संयोजनाश्रों को स्वरूप मिला करेगा ग्रीर मानव मानवोत्तम वनने की राह पाता रहेगा।



# गाँधी जी का ऋखंड योग

गाँधी जी के बारे में बहुत लिखा गया है। उनका काम हर तरफ़ फैला है, श्रीर उसके श्रनिगती पहलू हैं। उनके दान की शब्दों में बाँधना ऐतिहासिक के लिये श्रासान नहीं होगा। कोई चेत्र नहीं जिसमें उनका श्रसर समाया न हो। उनका प्रकाश दूर तक श्रीर हर कीने में पहुँचा है। उनकी छाप समय पर गहरी है श्रीर हिन्दुस्तान के ती इस चौथाई सदी का इतिहास उन्हीं की साँस से बना है।

लेकिन उनके बाहरी काम श्रोर श्रसर के जरिये गांधी जी की श्रसलियत तक पहुँचने में किनाई भी हो सकती है। धूप में रूरज को देखने
से श्राँखों में चकाचोंध समा जाती है। तब सूरज ठीक-ठीक नज़र
नहीं श्राता। उसी की रोशनी की मलमलाहट हमें उससे परे रखती है।
इसलिए श्रक्सर लोग, धूप पाकर जिनका सूरज से मनोरथ समाप्त नहीं
होता श्रीर जो उससे श्रागे भी सूरज की सचाई पाना चाहते हैं, उपाय
करते हैं जिससे सूरज श्रीर उनके बीच की धूप उन्हें श्राँखों न लगे।
ऐसे ही मुम्मे प्रतीत होता है कि गांधी जी की श्रसलियत को पाने के
लिए उजागर राजनीति में से न देखना, या उससे श्रसंलग्न होकर
देखना, ज़्यादा ठीक होगा। उनके श्रान्दीलनों श्रयवा उनकी संस्थाश्रों
में से उन्हें देखना धुएँ में से श्राग या कलेवर में से श्रातमा को देखने के
समान हो सकता है।

इमारी माषा स्वार्थ की है। मापा का प्रयोग है कि अप्रमुक ने हमें

प्रकाश का दान दिया। कृतज्ञता से यह कहना ठीक ही है। पर सत्य में हम जानते हैं कि प्रकाश जो देता कहा जाता है, खुद में तो वह जलता ही है। प्रकाश को वह नहीं जानता, जलने को ही जानता है। प्रकाश इस स्वयं जलने का ऐसा प्रतिफल है कि जिसमें अपने आप में कोई अभीष्टता नहीं है, केवल एक अनिवार्यता है।

गाँधी जी के जमाने में रहकर हमारे लिए सम्भव नहीं है कि हम उनके प्रति कृतज्ञता की भाषा से बच सकें। उन्होंने हमको हमारी मनु-ध्यता की सुधि दी है। हमारी श्राँखें खोली हैं। उस हिन्दुस्तान में हम रहते हैं जिसकी रगों में उन्हीं के जगाये प्राया दौड़ रहे हैं। इससे श्रिभ-नन्दन श्रीर श्रनुगमन द्वारा हम गांधी को प्राप्त कर प्रसन्न होते हैं।

लेकिन श्रगर इम कृतक्षता के भाव से ऊपर जा सकें श्रीर गांधी जी की महिमा में न रहकर उनकी सत्यता में उतर सकें तो हमें स्तब्ध रह जाना होगा। तब शायद भय से इमारा मन रक जायगा। 'नेता' मान कर उनके प्रति जय-जयकार का गुक्कार तब इमसे कदाचित न फूटेगा। बल्कि हमारा हृदय एक गम्भीर श्रनुकम्पा श्रीर श्रकात भीपिका से भर श्रायेगा। इमारी श्राँखें तब भीग श्रायेंगी श्रीर लगेगा कि हमारी नीचे की धरती शूत्य हो गई है श्रीर एक श्रतल में इम खोये जा रहे हैं।

गाँधी जी का बाहरी रूप मोहक है। लेकिन उनकी भीतर की यथा-र्थता थरीं देने वाली हो सकती है। वहाँ एक ऐसा महा शून्य है कि जिसकी थाह नहीं श्रीर बिरले को उसमें भाँकने की हिम्मत हो सकती है।

व्यक्ति जो करता है वह उसी का रूप है जो वह है। होना ही करना है। कर्म का मूल भाव में है। इससे उसकी पहिचान भी वहीं है। यानी श्रादमी के महत्त्व की परख इसमें नहीं है कि वह क्या करता है, बल्कि वह तो इसमें है कि वह क्या है।

इसी भाँति गांधी जी की यथार्थता राजनीति में नहीं धर्में में देखनी होगी। राजनीति कर्म-गत है, धर्म भाय-रूप! इससे धर्म-प्राण होकर ही राजनीति सत्य है अन्यथा वह मिध्या है। धर्म से विहीन कर्म वन्धन की स्रृष्टि करता है। वैसे कर्म के मूल में 'अकर्म' नहीं रहता, अहंकार रहता है। गांधी जी का कर्म स्वभाव-सहज है। यहां तक कि उसका कर्नु स्व मी गांधी जी पर नहीं है। बड़े-से बड़ा काम हसीसे उनकी नींद को अटका नहीं पाता है।

इस प्रकार गांधी जी का कर्म गांधी जी का माप नहीं है। इस जगह वह सब देशों श्रीर इतिहासों के राजपुरुषों से श्रलग हैं। राजकीय सहापुरुपों का कर्म विराट किन्तु व्यक्तित्व स्वल्प होता है। मानो उस कर्म की विराटता के पीछे मन-प्राण की जुद्रता छिपी रहती है। किया जानेवाला काम देश-देशान्तर-व्यापी, किन्तु करनेवाला मन श्रहम्-सीमित होता है। धार्मिक पुरुपों की बात इससे न्यारी है। कर्म ऐसे व्यक्ति के पास शून्यवत् है श्रीर भाव पर उसके कोई निजता की सीमा नहीं रह जाती। इससे ऐसे व्यक्ति का स्वल्प कर्म कालान्तर में बृहत् फल उत्पन्न करनेवाला हो जाया करता है।

गाँधी जी की दूसरे श्रधिकांश प्रसिद्ध कर्मध्य पुरुपों से इस जगह पृथकता है। छोटे काम या बड़े काम जैसी संज्ञा उनके पास नहीं है। काम कोई भी छोटा नहीं है, इसीसे न कोई बड़ा है। श्रसल में श्रान्त-रिकता से पृथक् बाहरी काम जैसी बस्तु ही उनके पास नहीं है। यह उनकी विशेषता संसार के कार्मिक पुरुषों से उन्हें श्रलग करके इतिहास के श्राप्त श्रीर मुक्त पुरुषों की पंक्त में रख देती है।

गांधी जी की सम्पूर्ण सत्यता की मालक के लिए उनके रचनात्मक कार्यक्रम के श्रध्ययन से ऋधिक उनकी निष्ठा के मनन की श्रोर भुकना होगा। क्या वह यज्ञज्वाला है जिसमें कि उनका च्या-च्या जलता श्रीर उजलता हुआ बीतता है ? क्या ज्या है जो उन्हें धारण रखती है. श्रीचूक श्रीर हर दिन प्रात:-सन्ध्या प्रार्थना के रूप में उस व्यक्ति में से उच्छवसित होनेवाली वेदना क्या है ? वह राम-नाम की रटन प्रकृत में क्या है जो इधर पैंतीस वपों से दिन-रात के किसी पल उनमें नहीं थम पाई ? मेरा श्राग्रह है कि इसी श्रज्ञात श्रीर श्रज्ञेय महारहस्य में गाँधी जी के व्यक्तित्व की सचाई निहित है ।

राज-कर्म में तो वह विरोधामास के पुजा हैं। जगत् के प्रति श्रसंख्य उनके पहलू हैं। उस श्लोर से वह एक पहेली हैं, प्रश्न हैं, श्लाचर हैं। वहाँ वह एक ऐसी विचिन्नता हैं, जिसे एक-सी उपयुक्तता के साथ विचिन्त श्लोर श्लामिक कहा जा सकता है। बुरे-से-बुरे श्लोर श्लामिक कहा जा सकता है। बुरे-से-बुरे श्लोर श्लामिक कहा जा सकता है। बुरे-से-बुरे श्लोर श्लामिक वन पर ठहर सकते हैं—वह एक ऐसी विशिष्टता है। किसी के निकट वह धूर्त ता वूसरे के निकट वे महातमा हैं। पर वह निर्विशिष्ट क्या है जहाँ सब विशेषण छूट रहते हैं श्लोर निपट निजता ही उनकी बच रहती है !

मेरी प्रतीति हैं कि उनके व्यक्तित्व की सत्यता वहाँ नहीं जहाँ नानाविधि कमें में वह विभक्त हैं। बिल्क उस जगह है जहाँ वह अपनी निष्ठा
में संयुक्त और अखराद हैं। राजनीति में गाँधी जी समय की भाँति
चंन्वल और प्रवाही हैं। बहुत उनके रूप हैं और अपने ही वाक्यों से
वह बैंधे हुए नहीं हैं। वहाँ वह माया के समान रपटीले हैं। पर कहीं
अवश्य वह अविचल और अुव हैं, और वहीं उनके व्यक्तित्व के तिलिस्म
की कुंजी भी है।

धर्म ग्रीर राजकरण प्रकटतः दो हैं। एक है नित्य सिद्धान्त, दूसरा है सामयिक व्यवहार। एक की परिमाण काल से श्रब्धूती है, दूसरे की की माणा पल-पल बदलती हुई काल-गित से बनती है। पहले धर्म की राह पर सन्त सुनसान की ग्रीर गया है, श्रीर दूसरे की सिद्धि में सरदार कों बमासान में बढ़ना हुन्ना है। सन्त श्रीर सरदार के श्रादशों में विरोध रहा है। एक का सत्य दूसरे के लिए मिध्या हो रहा है। धर्म-विश्वासी ने जगत् को माया कहकर उसपर ग्राँख मूँदी है ग्रीर तलवार के ग्रम्यासी ने ईश्वर की ग्रोर पीठ देकर जगत् को बस में किया है।

इन दो राहों के राहियों को समभने में हमें दिक्कत नहीं होती। उन दोनों का द्वेत जैसे दोनों को स्पष्ट करता है। पर गाँधी जी के व्यक्तित्व में इतना निपट श्रद्धेत है, ब्रह्म श्रीर जगत में इतना ऐक्य है, कि द्वेत से प्रकाश पानेवाली बुद्धि गांधी के श्राकलन में श्रसमर्थ ही रहेगी। श्रद्धा-संयुक्त बुद्धि, जो श्रश्चेय को चोम में इन्कार नहीं इतार्थता में स्वीकार करती है, ऐसी बुद्धि के योग से ही गांधी की समन्वित संयता को हृदयंगम किया जा सकेगा।

गाँची जी को कर्म के त्रेत्र में ही सम्मवतः सबसे श्रिषक अनुवायीं मिले हैं। धर्माचार्यों की पंक्ति में गांधी नहीं हैं। निस्संदेह कर्म से निर्दात्त का उनसे प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त होती। इस कारण नहीं कि धर्म से श्रिषक कर्म पर उनका जोर है, बिल्क इसलिए कि धर्म की साधना उनके निकट कर्म-हीनता में नहीं सतत् कर्म-मगता में ही है।

श्राध्यात्मिक श्रकमं की सिद्धि उनके लिए लौकिक सेवा कर्म में ही है। इससे यह लोक (कर्म) प्रवर्तक से श्रलग कोई धर्म-प्रवर्त्तक नहीं हैं। एर सामान्य अर्थ में लोक नेता भी वह नहीं हैं। लोक कर्मी उनसे परेशान ही श्रिधिक हैं। उद्योगीकरण का उनसे विरोध ही हुआ है, श्रौर शिक्त-स्पीत कर्म के उपान को उन्होंने सदा ठंडे छींटे दिये हैं। स्पष्ट हैं कि लोक-कर्म के माध्यम से उनके जीवन के श्रविकल सत्य को प्राप्त करने में भूल हो सकती है।

मेरं मत से उनकी साधना ऋखंड योग की है। स्वार्थोपयोगी से ऋधिक सत्यशोधी दृष्टि से यदि देखेंगे तो उनके राजनेतृत्व के पार उनके आत्मयोग-साधन पर ही हमारी निगाह ठहरेगी। उनका योग शास्त्रीय नहीं, साहजिक है, ऐकान्तिक नहीं, ऋखयह है। जीवन के परिपूर्य ऐक्य

का वह प्रतीक है। उनकी साधना में जगत् श्रीर ब्रह्म का श्रन्तिम द्वन्द्व भी लय को प्राप्त होता है।

उस योग का सार है कि अपने में अखंड और युक्त बनो । मन, बचन श्रीर कर्म में अन्तर न रहने दो । बिचार, उच्चार श्रीर श्राचार एक श्रीर श्रीमन्न होनें । इस अभ्यास में उत्तरोत्तर मनुष्य-मात्र प्राणिमात्र के साथ एकता की साधना होगी । इसी में उस परमात्मा के साथ योग का लाभ होगा जो सब में ब्याप्त है । इसी में से ब्यक्ति, देश श्रीर जगत् की मुक्ति सिद्ध होगी । इसमें कर्म हस्व नहीं होगा, उस पर सं ब्यक्ति की निजता की सीमा उठ जायगी । तब स्थूल-कर्म पूजा के समान पवित्र श्रीर व्यक्ति-कर्म प्रकृत (परमात्म) कर्म के समान मुक्त, गंभीर श्रीर विराद होता जायगा ।



## गांधी-नीति

कहा गया कि गांधीवाद पर कुछ लिखकर तूं। मेरे लेखे गांधीवाद सब्द मिथ्या है। जहाँ वाद है वहाँ विवाद अवश्य है। वाद का लच्च है कि वह प्रतिवाद को विवाद द्वारा खंडित करे और इस तरह अपने को प्रचलित करे। गांधी के जीवन में विवाद एकदम नहीं है। इसलिए गाँधी को वाद द्वारा प्रहर्ण करना सफल नहीं होगा।

गांधी ने कोई स्त्रबद्ध मन्तव्य प्रचारित नहीं किया है। वैशा रेखाबद्ध मन्तव्य वाद होता है। गांधी श्रपने जीवन को सत्य के प्रयोग के रूप में देखते हैं। सत्य के साचात्कार की उसमें चेष्टा है। सत्य पा नहीं लिया गया है, उसके दर्शन का निरन्तर प्रयास है। उनका जीवन परीच्या है। परीच्या फल श्राँकने का काम इतिहास का होगा, जबिक उनका जीवन जिया जा चुका होगा। उससे पहले उस जीवन-फल को तौलने के लिए बाट कहां है, रखने के लिए श्रन्तर (Perspective) कहां है!

जो सिद्धान्त गांधी के जीवन द्वारा चरितार्थ और परिपृष्ट हो रहा है वह केवल बीद्धिक नहीं है। इसिलए वह केवल बुद्धिग्राह्म भी नहीं है। वह समूचे जीवन से सम्बन्ध रखता है। इसिलहाज से उसे आध्यात्मिक कह सकते हैं। आध्यात्मिक, यानी धार्मिक। व्यक्तित्व का और जीवन का कोई पहलू उससे बचा नहीं रह सकता। क्या व्यक्तिगत, क्या सामाजिक, क्या राजनैतिक, अथवा अन्य खेत्रों में वह एक सा व्यापक है। वह विनमय है, बादगत वह नहीं है।

गांधी के जीवन की समूची विविधता भीतर संकल्प और विश्वास की निपट एकता पर क़ायम है। जो चिन्मय तत्त्व उनके जीवन से व्यक्त होता है उसमें खंड नहीं हैं। वह सहज और स्वमाव-रूप है। उसमें प्रतिमा की आमा नहीं है, क्योंकि प्रतिभा द्वन्द्वज होती है। उस निगुण अद्वेत तत्त्व के प्रकाश में देख सकें तो उस जीवन का विस्मयकारी वैचित्र्य दिन की घूष-जैसा धीला और साफ़ हो आयगा। अन्यथा गांधी एक पहेली है जो कभी खुल नहीं सकती। कुं जी उसकी एक और एक ही है। वहाँ दो-पन नहीं है। वहाँ सब दो एक हैं।

"सर्वधर्मान् परित्यच्य मामेकं शरणां वन ।" समूचे श्रीर बहुतेरे मतवादों के बीच में रहकर, सबका मानकर किन्तु किसी में न फँसकर, गांधी ने सत्य की शरणा का गह लिया । सत्य ही ईश्वर श्रीर ईश्वर ही सत्य । इसके श्रांतिरिक्त उनके निकट ईश्वर की भी कोई श्रीर भाषा नहीं है न सत्य की ही कोई श्रीर परिभाषा है । इस दृष्टि से गांधी की श्रास्था का श्राधार श्रविश्वासी को एकदम श्रगम है । पर वह श्रास्था श्रट्ट, श्रजेय श्रीर श्रच्क इसी कारण है । देखा जाय तो वह श्रांत सुगम भी इनी कारणा है ।

कहां से गांधी को कर्म की प्रेरणा प्राप्त होती है, इसका बिना अनुमान किये उस कर्म का अंगीकार कठिन होगा। स्रोत को जान लेने पर मानों वह कर्म सहज उपलब्ध हो जायगा। गांधी की प्रेरणा शत-प्रति-शत आस्ति-कता में से आती है। वह सर्वथा अपने को ईश्वर के हाथ में छोड़े हुए हैं। ऐसा करके अनायास वह भाग्य-पुरुष (Man of Destiny) हो गये हैं। जो वह चाहते हैं होता है—क्योंकि जो होनेवाला है उसके अतिरिक्त चाह उनमें नहीं है।

वौद्धिक रूप से ग्रहण की जानेवाली उनकी जीवन-नीति, उनकी समाज-नीति, उनकी राजनीति इस आस्तिकता के आधार को तोड़कर समभने की कोशिश करने से समभ में नहीं आ सकती। इस माँति वह गांधी-नीति ७३

एकदम विरोधामास से भरी, वक्रनाओं से वक्र ख्रोर प्रपंचों से क्लिष्ट मालूम होगी । जैसे मानों उसमें कोई रीड ही नहीं है । वह नीति मानो श्रवमरवादी (Opportunist) की नीति है। मानो वह घावरन है। पर सुक्ते तो ऐसा मालूम होता है कि यह घानपन, यह कार्यकौराल, श्रना-यास ही यदि उन्हें सिद्ध हो पाया है तो इसी कारण कि उन्होंने श्रपने जीवन के समचे जोर से एक और अकेले लच्य को पकड़ लिया है। श्रीर वह लच्य क्योंकि एकदम निग्रंग, निगकार, अशेय और अनन्त है; इससे वह किसी को बाँध नहीं सकता . खोलता ही है । उस आदर्श के प्रति उनका समर्पण सर्वोगीण है। इसलिए सहजभाव से उनका व्यवहार भी श्रादर्श से उज्ज्वल श्रीर प्रंथिहीन हो गया है । उसमें द्विविधा ही नहीं है । द्रनिया में चलना भी मानों उनके लिए श्रध्यारम का ध्यान है। नर की सेवा नारायश की पूजा है। कर्मसुकोशल ही योग है। ईश्वर और संसार में विरोध: यहाँ तक कि द्वित्व ही नहीं रह गया है । सृष्टि सृष्टामय है श्रीर विष्ठा को भी सोना बनाया जा सकता है। यो कहिए कि सुष्टि में स्तृष्टा, नर में नारायगा, पदार्थमात्र में सत्य देखते की उनकी साधना में से ही उनकी राजनीति. उनकी समाजनीति ने वह रुख लिया जो कि लिया। राजनीति श्राध्यात्मिकता से श्रनुपाणित हुई, स्थूल कर्म में सत्यज्ञान की प्रतिष्ठा हुई श्रीर घोर घमासान में प्रोम श्रोर शान्ति के श्रानन्द को श्रद्धराण रखना बताया गया ।

सत्य ही है। मेदभात्र उसमें लय है। इस अनुभूति की लीनता ही सब का परम इष्ट है। परन्तु हमारा अज्ञान हमारी बाधा है। अज्ञान, यानी अष्टकार। जिसमें हम हैं उसमें ही, अर्थात् स्वयं में शून्य, अपने की अनुभव करते जाना ही ज्ञान पाना और जीवन की चिरतार्थता पाना है। यही कर्तव्य, यही धर्म।

विश्वास की यह मित्ति पाने पर जब व्यक्ति चलने का प्रयासी होता हैं तब उसके कर्म में आदर्श सामाजिकता अपने आप समा जाती है। समूचा राजनैतिक कर्म भी इसके भीतर आ जाता है। देश सेवा आती है। विदेशी सरकार से लड़ना भी आ जाता है। स्वराज्य कायम करना और शासन-विधान को यथावश्यक रूप में तोड़ना बदलना भी आ जाता है।

पर वह कैसे ?

सत्य की श्रास्था प्राप्त कर उस श्रोर चलने का प्रयत्न करते ही श्रभ्यासी को दूसरा तत्त्व प्राप्त होता है—श्रहिंसा। उसे सत्य का ही साज्ञात् पहलू कि ए। जैसे रात को चाँद का बस उजला भाग दीखता है, शेष पिछला भाग उसका नहीं दिखाई देता, उसी तरह कहना चाहिए कि जो भाग सत्य का हमारे सम्मुख है यह श्रहिंसा है। वह भाग श्रगर उजला है तो किसी श्रापर ज्योति से ही है। लेकिन फिर भी वह प्रकाशो-द्गम (सस्य) स्वयं हमारे लिए कुछ श्रज्ञात श्रीर प्रार्थनीय ही है। श्रीर जो उसका पहलू श्राचरणीय रूप मे सम्मुख है वही श्रहिंसा है।

सत्य में तो सब हैं एक । लेकिन यहाँ इस संसार में तो सुक्त जैसे कोटि-कोटि आदमी दीखते हैं । उनके अनेक नाम हैं, अनेक वर्ग हैं । ईश्वर में आस्था रखूँ तो इस अनेकता के प्रति कैसा आचरण करूँ ? उन अनेकों में भी कोई सुक्ते अपना मानता है, कोई पराया गिनता है । कोई सगा है, तूमरा होपी है । और इस दुनिया के पदार्थों में भी कुछ मेरे लिए ज़हर है, कुछ अन्य औपध है । इस विपमता से मरे संसार के प्रति ऐक्य विश्वास को लेकर मैं कैसे वर्तन करूँ, यह प्रश्न होता है ।

त्रास्तिक त्रगर ऐसे विकट त्रवसर पर संशय से धिरकर श्रास्तिकता को छोड़ नहीं बैठता, तो उसके लिए एक ही उत्तर है। वह उत्तर है, ऋहिंसा।

जो है ईश्वर का है, ईश्वर-कृत है। मैं उसका, किसीका, नाश नहीं चाह सकता, किसी की बुगई नहीं चाह सकता, किसी को मूठा नहीं कह सकता, घमंड नहीं कर सकता, श्रादि कर्तव्य एकाएक ही श्रास्तिक के ऊपर श्रा जाते हैं। लेकिन कर्तव्य कुछ आजाय—तर्क सुभायगा कि—सचाई भी तो हम देखें। श्राँख सब श्रोर से तो मूँदी नहीं जा सकती। वह श्रांख दिखाती है कि जीव जीव को खाता है। मैं चलता हूँ, कौन जानता है कि इसमें भी बहुतों को श्रमुविधा नहीं होती, बहुतों का नाश नहीं होता ? श्रहार बिना क्या मैं जो सकता हूँ ? लेकिन श्रहार क्या हिंसा नहीं है ? जीवन का एक भी व्यापार हिंसा के बिना सम्भव नहीं बनता दीखता। जीवन सुद्ध दिखलाई देता है। वहाँ शान्ति नहीं है। पग-पग पर दुविधा है श्रीर विग्रह है।

तब कहे, कौन क्या कहता है। ऐसे स्थल पर श्राकर ईश-निष्ठा ट्रूटकर ही रहेगी। ऐसं समय पगल ही ईश्वर की बात कर सकता है। जिसकी श्रांखें खुली हैं श्रीर कुछ देख सकती हैं वह सामने के प्रत्यन्त जीवन में से, श्रीर इतिहास द्वारा परोन्न जीवन में से, साफ़-साफ़ सार तत्व को पहचान लेगा कि युद्ध ही मार्ग है। उसमें वल की ही विजय है, श्रीर बल जिस पद्धित से विजयी होता है उसका नाम है हिंसा। जो मजबूत है वह निर्वल को दवाता श्राया है, श्रीर इसी तरह विकास घटित होता श्राया है।

मेरे स्पाल में श्रद्धा के श्रभाव में तर्क की श्रीर बुद्धि की सचाई श्रीर चुनीती यही है।

किन्तु समस्या भी यही है। रोग भी यही है। श्राज जिस उलम्मन को मुलम्माना है श्रीर जिस उलम्मन को मुलम्माने का सवाल हर देश में, इर काल में, कर्मचेत्र में प्रवेश करनेवाले थोद्धा के सामने श्रायगा, वह यही है कि इस कुर चेत्र में में क्या करूँ ! किसको छोडूँ, किसको लूँ ! बुराई को कैसे पछाडूं ! बुराई क्या है ! क्या बुराई श्रमुक श्रयवा श्रमुक नामधारी है ! या बुराई वह है जो कि दु:ख देती है !

इतिहास के श्रादि से दो नीति और दो पद्धित चलती चली श्राई हैं। एक वह जो श्रापने में नहीं, बुराई को कहीं बाहर देखकर ललकार के साथ उनके नाश के लिए चल उठती है। दूसरी, जो स्वयं श्रपने को भी देखती है श्रोर चुरे को नहीं उसमें विकार के कारण श्रागई हुई बुराई को दूर करना चाहती श्रोर विकार का निदान श्रपने में वह खोजती है। श्रास्तिक की पद्धति यह दूमरी ही हो सकती है। श्रास्तिकता के बिना बहुत सुश्किल है कि पहली नीति को मानने श्रोर उसके वश में हो जाने से स्थित बच सके।

गाँधी की राजनीति इस प्रकार धर्मनीति का ही एक प्रयोग है। वह नीति संवर्ष की परिभाषा में बात नहीं सोचती। संवर्ष की भाषा उसके लिए नितान्त अमंगत है। युद्ध तो अनिवार्य ही है, किन्तु वह धर्म युद्ध हो। जो धर्म-भाव से नहीं किया जाता वह युद्ध संकट काटता नहीं, संकट वहाता है। धर्म साथ हो, फिर युद्ध से मुँह मोडना नहीं है। इस प्रकार के युद्ध से शत्रु मित्र बनता है। नहीं तो शत्रु चाहे मिट भी जाये, पर वह अपने पीछे शत्रु ता के बीज छोड़ जाता है श्रीर इस तरह शत्रु आं की संख्या गुयानुगुखित ही हो जाती है। अतः युद्ध शत्रु से नहीं, शत्रु ता से होगा। युराई से लड़ना कर स्क सकता है शो बुराई को मान बेटता है, वह मलाई का कैसा सेवक है शहसे निरन्तर युद्ध, अविराम युद्ध। एक चया भी उस युद्ध में आंख फायकने का अवकाश नहीं। किन्तु पल-भर के लिए भी वह युद्ध वासनामूलक नहीं हो सकता। वह जीवन और भीत का, प्रकाश-अन्धकार और धर्म-अधर्म का युद्ध है। यह जोड़ की धार पर चलना है।

इस प्रकार गांधी-नीति की दो आधारशिला प्राप्त हुई --

### (१) ध्येय-सत्य।

क्योंकि च्येय कुछ श्रीर नहीं हो सकता। जिसमें दिधा है, दुई है, जिससे कोई श्रालग भी है, वह ध्येय कैसा ! जो एक है, वह सम्पूर्ण भी है। वह स्वयंभू है, श्रादि-श्रन्त है, श्रनादि-श्रन्त है। प्रगाद श्रास्था से प्रहण करों तो वही ईश्वर।

(२) धर्म--ग्रहिंसा ।

गाँघी-नीति ७७

क्योंकि उस ध्येय को मानने से जो व्यक्षार-धर्म प्राप्त हो त्राता है उसीका श्रंगीकरण है: श्राहिंसा।

श्रहिंसा इसलिए कहा गया कि उस प्रेरक (possitive) तस्व को स्वीकार की परिमापा में कहना नहीं हो पाता, नकार की ही परिमापा हाथ रह जाती है। उसको कोई निश्चित संज्ञा ठीक खोल नहीं पाती। हिंसा का श्रमाय श्रहिंसा नहीं है, वह तो उसका रूप-भर है। उस श्रहिंसा का प्राया प्रेम है। प्रेम से श्रीर जीवन्त (पाजिटिव) शक्ति क्या है? फिर भी श्रात्मगत श्रीर व्यक्तिगत प्रेम में श्रन्तर बाँधना कठिन हों जाता, श्रीर 'प्रोम' शब्द में निपेध की शक्ति भी कम रहती; इसीसे प्रेम न कह कर कहा गया 'श्रहिंसा'। वह श्रहिंसा निष्क्रिय (passive) पदार्थ नहीं है, वह तेजस्वी श्रीर सक्रिय तस्व है।

श्रहिंसा इस प्रकार मन की समूची वृत्ति द्वारा श्रह्ण की जानेवाली शक्ति हुई। कहिए कि चित्त श्रहिंसा में भीग रहना चाहिए। श्रीर सत्य है ही ध्येय। कहा जा सकता है कि मात्र इन दोनों—सत्य-श्रहिंसा—के सहारे साधारण भाषा में लोक-कम के सम्बन्ध में सीधा कुछ प्रकाश नहीं प्राप्त होता। सत्य को मन में धार लिया, श्रहिंसा से भी चित्त को भिगो लिया, लेकिन श्रव करना क्या होगा ? तो उसके लिए है:—

## (३) कम<sup>6</sup>—सत्याग्रह ।

'सत्याग्रह' मानो कर्म की व्याख्या है। सत्य प्राप्त नहीं है। उस उपलब्धि की श्रोर बढ़ते रहना है। इसीमें गति ( उन्मति, प्रगति, विकास श्रादि ) की श्रावश्यकता समा जाती है। इसीमें कर्तव्य (Doing) श्रा जाता है।

यहाँ प्रश्न उठ सकता है कि जब पहली स्थापना में सत्य की आखंड और अविभाज्य कहा गया तब वहाँ अवकाश कहाँ रहा कि आप्रह हो ? जहाँ आप्रह है वहाँ, इसलिए, असत्य है। यह शंका श्रत्यन्त संगत है। श्रोर इसीका निराकरण करने के लिए शर्त लगाई गई—स्विनय। जहाँ विनय-भाव नहीं है, वहाँ सत्याग्रह हो ही नहीं सकता। वहाँ उस 'घोप' का व्यवहार है तो जान श्रयवा श्रजान में छल है। व्यक्ति सदा ही श्रपूर्ण है। जब तक वह है, तब तक समष्टि के साथ उसका छुछ मेद भी है। फिर भी जो सम्प्रिगत सत्य की भाँकी व्यक्ति के श्रन्तःकरण में प्राप्त होकर जाग उठी है, व्यक्ति की समूची निष्ठा उसीके प्रति समर्पित हो जानी चाहिए। उस ढटी रहनेवाली निष्ठा को कहा गया श्राग्रह, किन्तु उस श्राग्रह में सत्याग्रही श्रावनथी नहीं हो सकता, श्रीर उस ब्राग्रह का कष्ट श्रीर दस्त अपने ऊपर ही लेता है। उसकी (नैतिक से श्रातिरिक्त) चोट दूसरे तक नहीं पहुंचने देता। यानी रुत्याग्रह है तो सविनय होगा। कहीं गहरे तल में भी वहाँ श्रविनयभाव नहीं हो सकता। कानून (सरकारी श्रीर लीकिक) तक की श्रयशा हो सकेगी, उसका भंग किया जा सकेगा, लेकिन तभी जबिक सत्य की निष्टा के कारण हो श्रीर वह श्रवशा सवया विनम्न श्रीर मद्र हो।

गांधी-नीति के इस प्रकार ये तीन मृल सिद्धान्त हुए। यों तीनों एक ही हैं। फिर भी कह सकते हैं कि सत्य व्यक्तिगत है, श्रहिंसा सामाजिक श्रीर सत्याग्रह राजनैतिक हो जाता है।

इसके आगे संगठित और सामुदायिक रूप से कम की व्यवस्था और आन्दोलन का प्रोग्राम पाने के बारे में कठिनाई नहीं होगी। व्यक्ति किन्हीं विशेष परिस्थितियों को लेकर पैदा होता है। इन परिस्थितियों में गर्भित आदि-दिन से ही कुछ कर्तव्य उसे मिलता है। वह कर्तव्य कितना ही स्वल्प और सीमित प्रतीत होता हो, लेकिन वहीं व्यक्ति की सिद्धि और वही उसका स्वधर्म है। उसकी पूर्ति में से मानों वह सब कुछ करने का द्वार पा लेता है। 'स्वधर्मों निघंन श्रेयः, परधर्मों भशावहः'।

इस भाँति वर्तन करने से विकल्प-जाल कटता है। कल्पना को लगाम मिल जाती है। बुद्धि बहकती नहीं स्रोर तरह-तरह के स्वर्ग-चित्र (Utopias) तात्कालिक कर्म से बहकाकर व्यक्ति को दूर नहीं खींच ले जाते। च्याोत्साह की (Romantic) वृत्ति इस तरह मन्द होती है श्रीर परियाम में स्वार्थ-जन्य स्पर्धा श्रीर श्रापाधायी भी कम होती है। सब को दबा दैने श्रीर सबसे श्रागे बढ़े हुए दीखने की श्रोर मन उतना नहीं लयकता श्रीर परियामतः व्यक्ति विच्चोभ श्रीर विषमता पैदा करने में नहीं लग जाता। महत्वाकाँचा (Ambition) की धार तब काटती नहीं। व्यक्ति कर्मशाली तो बनता है, फिर भी भागाभागी से बच जाता है। वह मानों श्रयना स्वामी होता है। ऐसा नहीं जान पहता जैसे पीछे किसी चाबुक की मार पर बेबस भाव से श्रन्धी गति में भाग रहा हो।

सुफ्ते तो मालूम होना है कि हमारी सामाजिक श्रीर राजनैतिक उलफ्फनों की जड़ में मुख्यता से यही श्रापा-धापी श्रीर यदायदी की प्रवृत्ति है।

ऊपर यह श्रान्तरिक (Subjective) दृष्टिकोण की बात कही गई। यानी भावना-शुद्धि को बात। मुख्य भी वही है। पर प्रश्न होगा कि घटना की दुनिया (Objective Conditions) के साथ गाँधी-नीति क्या करना चाहती है ! उसमें क्या सुधार हो, श्रीर कैसे हो ! समाज का संगठन क्या हो ! श्रावश्यकता श्रीर श्राविष्कार का, उद्यमश्राराम का, विज्ञान-कला का, शासन का श्रीर न्याय का परस्पर सम्पर्क श्रीर विभाजन क्या हो ! क्षम श्रीर पूँजी कैसे निवटे ! श्रादि-श्रादि ।

तो प्रश्नकर्ता को पहले तो वह कहना आवश्यक है कि सारे प्रश्न श्राज श्रमी हल हो जायेंगे तो काल भी आज ही समाप्त हो जायगा। इससे प्रश्नों को लेकर एक घटाटोप से अपने को घर रहने और हल्बुद्ध होने की आवश्यकता नहीं है १ फिर उनका हल कागृज्ज पर और बुद्धि में ही हो जानेवाला नहीं है । सब सवालों का हल बतानेवाली मोटी किताब

मुक्ते उन मवालों से छुटकारा नहीं दे देगी। इस्तिए विचार-धाराश्रों (Ideologies) से काम नहीं चलेगा। जो प्रश्न है उनमें तो श्रपनी समूची कर्म की लगन से लग जाना है। ऐसे ही वे शनैः-शनैः निवटते जायेंगे। नहीं तो किनारे पर वैठकर उनका समाधान मालूम कर लेने से कर्म की प्रेरणा चुक जायगी श्रीर श्रन्त में ज्ञात होगा कि वह मन द्वारा मान लिया गया समाधान समाधान न था, फरेव (Illusion) था, श्रीर ज्ञरा बोक पड़ते ही वह तो उड़ गया श्रीर हमें कोरा-का-कोरा वहीं-का-बही छोड़ गया। श्रय्यात् उन प्रश्नों पर बहता-बहती श्रीर लिखा-पढ़ी की श्रपने-ग्राप में जरूरत नहीं है। उनमें छुट जाना पहली बात है।

गांधी-नीति है कि समस्या को वौद्धिक कहकर केवल बुद्धिकीड़ा से उन खोलने की आशा न करो । ऐसे वह उलभोगी ही । समस्या जीवन की है, इससे पूरे जीवन-यल के साथ उससे जूमों । इस कार्य-पद्धति पर बढ़ते ही पहला सिद्धान्त-सूत्र जो हाथ लगता है, वह है स्वदेशी ।

रवदेशी द्वारा व्यक्तिगत कर्म में सामाजिक उपयोगिता पहली शत के तार पर मोगी जाती है। उस शर्त का ग्रर्थ है कि हमारे काम से लोगों को लाम पहुंचे। ग्रादान-प्रदान बढ़े, सहानुभूति विकसे, श्रीर पड़ोसी-पन पनपे। Neighbourliness (पास-पड़ोसपन) स्वदेशी की जान है। मेरा देश वह जहां मैं रहता हूँ। इस भाँति सब से पहले मेरा घर श्रीर मेरा गाँव मेरा देश है। उत्तरोत्तर वह बढ़कर ज़िला, प्रान्त, राष्ट्र श्रीर विश्व तक पहुँच सकता है। भूगोल के नक्शे का देश श्रान्तम देश नहीं है। मेरे घर को इन्कार कर नगर कुछ नहीं रहता, उसी तरह नगर-प्रान्त को इन्कार कर राष्ट्र कुछ नहीं रहता। उधर दूसरी श्रीर नागरिक हित से विरोधी बनकर पारिवारिक स्वार्थ तो निषिद्ध बनता ही है।

स्वदेशीं में यही भाव है। उसमें भाव है कि मैं पड़ोसी से इट्रें

गांधी-नीति मृ

नहीं श्रीर श्रिधकाधिक हममें हितैक्य बढ़े। दूसरा उसमें भाव है, सर्वोदय। एक जगह जाकर शरीर भी श्रात्मा के लिए विदेशी हो सकता है।

समाजवादी श्रथवा श्रन्य वस्तुवादी समाजनीतियाँ इसी जगह भूल कर जाती हैं। वे समाज को सम्हालने में उसीकी इकाई को भूल जाती है। उनमें योजनाश्रों की विशादता रहती है, पर मूल में Neighbour-liness के तत्व पर जोर नहीं रहता। सामाजिकता वही सच्ची है जो पड़ीसी-भ्रेम से श्रारम्भ होती है। इस तत्त्व को ध्यान में रक्खें तो बड़े पैमाने पर चलनेवाला यांत्रिक उद्योगवाद गिर जायगा। जहाँ बड़े कल-कारलाने हुए वहाँ जन-पद दो मागों में बॅटने लगता है। वे दोनों एक-दूसरे को ग़रज की मावना से पकड़ते श्रीर अविश्वास से देखते हैं। वे परस्पर सद्य बने रहने के लिए एक-दूसरे की श्रांख बचाते श्रोर मिथ्याचार करते हैं। पूँ जी-मालिक मजूरों की भोंपिइयों को यथाशक्ति श्रपने से दूर रखता है श्रीर श्रपनी कोठी पर चौक्षीदारों का दल बैठाता है कि खुद दुष्पाप्य श्रोर सुर-चित बना रहे। उबर मजदूरों की श्रांखों में मालिक श्रीर मालिक का वैंगला काँटा बने रहते हैं।

इस प्रकार के विकृत श्रीर मिलन भानवीय सम्बन्ध तभी श्रसम्भव बन सकेंगे जब समाज की पुनर्रचना पड़ोसपन (Neighbourliness) के सिद्धान्त के श्राधार पर होगी। वह श्राधार स्वार्थ-शोध नहीं है। वस्तुवादी भौतिक (Malerialistic) नीतियाँ श्रंततः यहीं पहुँचती हैं कि क्यक्ति स्वार्थ के श्राधार पर चलता श्रीर चल सकता है।

स्वदेशी विद्धान्त में से जो उद्योग का कार्यक्रम प्राप्त होता है उसमें मानव-सम्बन्धों के श्रस्वच्छ होने का खटका कम रहता है। उसमें उत्पादन केन्द्रित नहीं होगा, श्रीर खपत के लिए मन्यम वर्ग के बदने श्रीर पूलने की गुआहश कम रहेगी। मानव-अम का मूल्य बढ़ेगा श्रीर श्रनुत्पादक चातुर्य का मूल्य घटेगा। महाजन, श्रमी श्रीर ग्राहक सब श्रासपास में मिले-जुले रहने के कारण समाज में वैपम्य विपम न होगा श्रीर शोपणवृत्ति की गर्ब-स्कीत होने का श्रवकाश कम प्राप्त होगा।

इस भोंति चरखा, ग्रामेशोग, मादक-द्रव्य-निपेध, ग्रीर हरिजन (दिलत) सेवा यह चतुर्विध कार्यक्रम हिन्दुस्तान की हालत को देखते हुए श्रन्त: ग्रुद्धि ग्रीर सामाजिक उपयोगिता दोनों ग्रन्तों का मिलाने वाली गांधीनीति के खदेशी सिद्धान्त में से खयमेव प्राप्त होता है। यह शक्ति-संचय ग्रीर ऐक्य-विस्तार का कार्यक्रम है। शक्ति श्रीर ग्रवसर प्राप्त होने पर फिर सत्याग्रह (Direct Action) द्वारा राजनैतिक विधान में परिर्वतन लाने श्रीर उसे लोक-कल्याण की श्रीर मोइने की बात विशेष दुस्साच्य नहीं रहती।

यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि स्वदेशी का आरम्म राष्ट्र-मावना से नहीं होता। इसिलए उसका अन्त भी राष्ट्र-मावना पर नहीं है। राष्ट्र-मावना मध्य में आजाय तो मले ही आजाय। स्वदेशी को भौगोलिक राष्ट्र के आर्थ में लेने पर गड़बड़ उपस्थित हो सकती है। इससे देशी पूँजी-बाद' को बदाबा मिलता है। और उस राह तो एक दिन State capitalism में उतर आना होगा। उसके अर्थ होंगे, एकतंत्रीय शासन। यांत्रिक-उद्योगाश्रित सम्बन्धाद का यही परिग्राम आनेवाला है। यानी ऐसा समाजवाद एकतंत्रवाद (फ़ासिज़्म आदि) को बुलाकर ही रहेगा। गांधी नीति का स्वदेशी सिद्धान्त अतः हिन्दुस्तानी मिलों को नहीं, घरेलू चरखों को चाहता है।

संचेप में गांधीनीति इस स्थापना से आरम्भ होती है कि जीवात्म सर्वात्म का ही खंड है। इससे व्यक्ति का ध्येय सत्य से एकाकार होना है। उसकी इस यात्रा में ही समाज, राष्ट्र और विश्व के साथ सामंजस्य की बात आती है। वह जितना उत्तरोत्तर इन ब्यापक सत्ताओं से एकात्म होता चला जाये उतना अपनी और संसार की बंधन-मुक्ति में योगदान करता है। इस यात्रा के यात्री के जीवन-कर्म का राजनीति एक पहलू है। श्राव-श्यक है, पर वह पहलू मर है। वह राजनीति कर्म में युद्ध-रूप हो, पर श्रपनी प्रकृति में उसे धर्ममयी श्रीर शांति-लन्नी होना चाहिए।

उस यात्रा का मार्ग तो अपरिज्ञित ही है। फिर भी अद्धा यात्री का सहारा है। भीतरी अद्धा का धीमा-धीमा आलोक उसे मार्ग से डिगने न देगा। उस राही को तो एक कदम बस काफी है। वह चले, फिर अगला स्का ही रखा है। मुख्य बात चलना है। राह चलने से ही खुलेगी। इस प्रकार इस यात्रा में प्रत्येक कदम ही एक साध्य है। यहाँ साधन स्वयं साध्य का अगंग है। साधन साध्य से मिन्न कहाँ हो सकता है। इससे जिसे लम्या चलना है, लम्बी बातों का उसके लिए अवसर नहीं है। वह तो चला चले, वस चला चले।

व्यवहार का कोई भी कमें धर्म से बाहर नहीं है। सब में धर्म की श्वास चाहिए। उसी दृष्टिकोण से जीवन की समस्याओं को प्रकृण करने से समुचित समाधान का लाभ होगा, श्रन्यथा नहीं। सब के मन में एक प्योति है। उसे जगाये रखना है। फिर उस लो में जीवन को लगाये चले चलना है। चले चलना, चले चलना। जो होगा, ठीक होगा। राह का श्रन्त न नाप, राही, तुसे तो चलना है।

#### : 4 :

# गांधी श्रीर विश्व-व्यवस्था

गांधी जेल में हैं, श्रोर एक वर्ष के ऊपर से उनकी कोई सीधी श्रावाज़ हमें नहीं मिली। कल एक बन्धु वर्तमान महापुरुषों को गिना रहे थे। गांधी को उनमें प्रथम रखने में उन्हें कठिनाई थी। जगद्-व्यवस्था में उनका कोई प्रकट दान नहीं दीखता। शेप नाम, जो उनकी गणना में श्राये, श्राज के युद्ध से सीधा सम्बन्ध रखने वाले पुरुषों के थे।

उन भाई की किटनाई आज के आलोचक की किटनाई है। गासन के और युद्ध के मैदान से गांधी अलग हैं और वन्द हैं। विश्व का भाग्य तय हो रहा है, देशों की सीमाएँ वन-मिट रही हैं और भावी व्यवस्था की दागवेल डाली जा रही है। यह सब गांधी को बिना लेखे में लिये हो रहा है। इससे क्यों न कहा जाय कि कमें के धरातल पर गांधी अनिवार्य नहीं है!

प्रकटत: यह सच है । युद्ध में दो ही पक्ष हैं । तीसरा कोई पक्ष नहीं है श्रीर यह युद्ध समूची मानवता का है । विश्व का भाग्य पक्ष में है श्रीर सम्मता के श्रगले कदम का निर्णय होना है । ऐसे समय जो किनारे पर है श्रीर इतिहास के मध्य में नहीं है, उसे विश्व-विचार की हिए से शून्यमत् ही समम्भना न्वाहिए । शत्रु भी विचारणीय है, मित्र भी विचारणीय है; पर जो यह है न वह, ऐसा व्यक्ति हिसाब में श्राने-योग्य नहीं उहरता ।

किन्दु युद्ध में श्रमल में दो पच नहीं हैं। युद्ध त्रिमुजात्मक है। तीसरी

भुजा मुखर नहीं है; किन्तु वही शेष दो की आधारमूल है। शायद वह भुजा नहीं है, भृमि है। उस भूमि पर रह कर ही दो लड़ते हैं।

कहा जाता है कि लड़ाई में जर्मनी, जापान श्रीर इटली एक श्रोर हैं; ब्रिटेन, श्रमरीका, रूस, चीन श्रादि दूसरी श्रोर । माव होता है कि वे देश लड़ रहे हैं। पर युद्ध-घोपणा उन देशों की सरकारों ने की है। देश के नाम पर वहाँ की सरकार को ही बोलने का हक है, यह ठीक हैं। लेकिन यह भी विदिन हो कि एक देश की सरकार श्रीर उस देश की जनता, यानी शासक श्रीर शासित, राजा श्रीर प्रजा, पूरी तरह एक नहीं होते हैं। श्रमुशासन श्रीर कानून में ये एक हों; हदय में श्रीर यथार्थ में दोनों श्रमिन्न नहीं होते। इसी से सरकारें बदला करती हैं, विद्रोही शासक हो जाते हैं श्रीर शासक दिएटत हुशा करते हैं।

यह पत्त श्रिषिकांश श्रव्यक्त रहता है। यह श्रसंगठित और गर्भित रहता है। उसके ऊपर से दलवर्ग ही मुखर हुआ करते हैं। जब यह मूख पत्त किसी गहरी व्यथा से उमार पाता है तय विस्कोट फूटता है श्रीर साम्राज्य व्यस्त हो जाते हैं।

जगर शासकों की लड़ाई है। उनको बल निस्तन्देह नीचे जन-सामा-न्य में से पहुँचता है। प्रजा ही लड़ती श्रीर लहू बहाती है। परिग्राम में एक शासक गिरता, दूसरा उठता है। रक्त बहाकर शासकों में परिवर्तन लाया जाता है। परिवर्तन से शान्ति श्राती है; फिर उस शान्ति के ऊपर होकर शासन चलता है, शासकों में फिर स्पर्दा होती और फिर युद्ध होता है! श्रीर फिर प्रजा कष्ट सहने को श्रागे श्राती है!!

सरकारें सब जनता के बल से पुष्ट हैं। क्या आज का लोकतन्त्र, या ऋधिनायकतन्त्र, या क्या फिर पुराना छुत्रतन्त्र—सबका अधिष्ठान जनता है। जन वहाँ से आते हैं, धन वहाँ से आता है और अन्त वहीं से आता है। बड़े युद्ध उन्हीं के बल पर और उन्हीं की छाती पर लड़े जाते हैं। इस माँति प्रत्येक युद्ध में दीखने में दो भुजाएँ ब्राती हैं। पर उन दोनों को तीसरी का सहारा है। वह तीसरी भुजा जो स्थायी है धरती में बिछ, कर रहती है। श्रम उसका धन है, पर वह मूक है श्रौर सहना उसका काम है।

गांधी ? इस युद्ध में वह तीसरी भुजा है। उसका जेल में होना प्रमाण है कि वह भुजा सजग है।

इस समय विश्व की राजनीति राष्ट्रीय नहीं रह गई है। गांधी को भी राष्ट्रीय समस्ता भूल होगी। कांग्रेस राष्ट्रीय हो, गांधी मानवीय है। श्रन्तर्राष्ट्रीय शब्द फिर कूट राष्ट्रवादी नीतियों के चक्र का द्योतक है। गांधी के साथ वह भी नहीं है। श्रन्तर्राष्ट्रीय चालों के पार उसका शुद्ध मानवी पत्त हैं।

देशों के लोग वह मानते हैं जो उन देशों की सरकारों ने उन्हें मानना वताया है। वे अपने हित को दूसरे के विरोध में दंखते हैं; क्योंकि उन्हें ऐसा दंखने की शिद्धा दी गई है। उन्हें अपनी रह्मा की चिन्ता है, दूसरे के आक्रमण का मय है, अपने स्वत्यों का लोम है, विस्तार की आक्रांच्या है—क्योंकि यह सब उनमें भरा गया है।

पर क्या उन्हों देशों में लोग नहीं हैं जो जानते हैं कि अम से धन उत्पन्न होता है, श्रीर लड़ाई में समय श्रीर सब कुछ, वर्बाद होता है ? क्या श्रन्दर ही श्रन्दर लड़ने वाले तक नहीं जानते कि दुनिया हम सब की है, श्रीर परमात्मा एक है, श्रीर मिल बाँटकर हमें रहना चाहिए ?

लेकिन वैर चेता दिया गया है और लोगों को अपनी ही भीतर की बात सुनने का अवसर नहीं है। प्रकृत मानव के प्रतिनिधि होकर उसकी अंन्तस्य आशा-श्राकांचाओं को वाशी देने वाले लोग हैं भी तो प्रचार के कोलाहल में वे अनसुन रहते हैं, या किर उन्हें बलात् चुपकर दिया जाता है।

गांधी मानवता की वही श्रन्तस्थ ध्विन है। उसे पहचान लिया गया है। वह जागरूक है श्रीर मन्द नहीं होगा। बीच के राजकारण के चकों में भी वह नहीं घिरेगा। वह स्पष्ट, दृढ़ श्रीर ऊर्ध्व, जगा ही रहेगा। श्रीर उसे जेल में रोका जायगा तो यह कृत्य ही स्वयं उसकी जगह बोलेगा।

श्रागामी विश्व-व्यवस्था की इस समय चर्चा है। लेकिन ब्रिटेन, श्रमरीका या किसी श्रीर देश का शासक, जो श्रपने राप्ट्रीय स्वार्थ की मापा में सोचता श्रीर चलता रहा है, क्या विश्व-शांति श्रीर विश्व-व्यवस्था के सम्बन्ध में किसी दूसरी बुद्धि या दृत्ति से निर्ण्य ले सकेगा १ श्राज श्रंभेज़ है, श्रम-रीकन है, जर्मन है, जापानी है—वह कहाँ है जो श्रादमी है १ सब श्रम्यासी हैं कि श्रपने को इस-उस देश का मानें श्रीर वाद कहीं श्रपने को श्रादमी मानें। वह व्यवस्था क्या विश्व-बन्धुत्व लाने वाली होगी, जहाँ हर व्यवस्थाक्या के स्वार्थ का प्रतिनिधि होगा १ क्या इस प्रकार की मन्त्रणा बड़ी शक्तियों को श्रीर मजबूत श्रीर छोटी शक्तियों को पराधीन रखने का ही साधन न हो जायेगी १ क्या ऐसी परिपद् में से शान्ति या व्यवस्था श्रा सकेगी १

ऐसे समय गांधी ही है जो प्रकृत-मानव का पन्न लेकर खड़ा है। बया गांधी ने नहीं कह दिया कि हिंसा से मिलने वाला स्वराज्य उसे नहीं चाहिए १ ऐसा राज्य सबका स्व-राज नहीं होगा। श्रास-शासन नहीं, किसी-न-किसी रूप में वह पर-शासन ही होगा। क्या, गांधी ने हमेशा स्पष्ट नहीं किया कि उसका कमें देश के लिए नहीं, मनुष्य के लिए है; श्रीर वह राजनैतिक नहीं, धार्मिक हैं १

युद्ध जब यह शान्त होगा, देश द्यापस में निवट चुके होंगे, तब विजयी पक्ष को अपना हिसाब जनता के हाथों सींपना होगा। या तो युद्ध के परिगाम स्वरूप साम्राज्य महा-साम्राज्य होंगे और औसत मनुष्य दुगना जकड़बन्द होगा या फिर राष्ट्रीय स्वार्य की भाषा में सोचने वालों की विश्व-परिभाषा में रहनेवालों के लिए जगह खाली कर देनी होगी। हर

हालत में, इस त्रिभुजात्मक युद्ध की विजयी भुजा को, श्रव नहीं तो फिर, शेप तीसरी भुजा से निवटना होगा।

यही तीसरी भुजा निहत्थी है, क्योंकि उसके पास काम करनेवाले दो हाथ हैं। दु:ख उसका बल है। वह घरती से लगी है, क्योंकि इसी में से सब उठते और अन्त में इसी में आ मिलते हैं। सिर ऊँ वा करके जो आज शासक बना है और धमक के साथ घरती पर पैर रखता है, आखिर वह भी घरती का है और उसी में आ मिलेगा। इसलिए इन घरती वालों का बल अहिंसा है। क्योंकि कोई उनसे पर नहीं, सब अपने हैं। इसलिए उनमें बैर नहीं है, पन्न नहीं है। क्या इक्कलैंड और क्या जर्मनी—ये अलग-अलग नाम तो काम चलाने भर के लिए हैं। घरती माँ को सब एक हैं। उसे इक्कलैंड-जर्मनी में अन्तर नहीं। दोनों लड़ते हैं, इसलिए दोनों भूल में हैं, क्योंकि दोनों घरती को उजाड़ते हैं। इस तीसरी भुजा का एक ही धन, एक ही बल और एक ही नियम है—वह है अम। ऊपर वालों के विलास के और बैर के सब खेल घरती से लगे लोगों के सतत अम पर चलते हैं। इस भुजा का धर्म सहते रहना और मेहनत करते जाना है।

गाँधी श्रीर कुछ नहीं है, मानवता के इसी श्रन्त-स्वरूप का प्रतिनिधि है। वह मनुष्य जाति का श्रन्तर्मन है। उसे कुचल कर लड़ा जा सकता है, उसको टाला जा सकता है, श्रमनुना किया जा सकता है। पर श्रन्त में उससे मुलभना ही होगा। उससे श्रपना हिसाब साफ़ किये बिना गति नहीं। इसमें कितने भी दिन लगें, पर होनहार यही है।

बात कुछ वड़ी मालूम होती है। पर यह भूल है कि गांधी मर कर मर जायेगा। शायद अशरीरी होकर वह और प्रबलता से जीयेगा। स्वयं जुस होकर जनता के अन्तर्भावों में व्याप्त होकर वह एक ऐसी शक्ति बन उठेगा कि यदि उससे पहले शासकों ने उससे निबदारा न कर लिया होगा तो फिर वह शक्ति, अप्रतिरोध्य और दुर्निवार्य, अटक न सकेगी और किसी की सुनेगी भी नहीं। गांधी-पुरुष के हाथों जो संयत है, जनता की प्रकृति से मिलकर वही उद्धत और दुद्ध पे हो उठेगा। तब जो न हो जाय थोड़ा है। जन-मन तब एक अन्धे वेग से उमरेगा। उस बाढ़ में क्या-क्या न तहस-नहस हो जायगा, कहा नहीं जा सकता।

पर वह संभावना शुभ नहीं है। विवेक में से ही मुक्ति श्रायेगी। श्रावेग तो नवीन वन्धन की सृष्टि कर उठेगा। इसी से गांधी के जीवन के प्रभाव के दो पत्त हैं। एक श्रोर उन्होंने लोक-चैतन्य को जगाया है, तो दूसरी श्रोर उसी के उफान पर छींटे भी डाले हैं। कहीं भी गर्भी को भड़कने नहीं दिया है। जब तक रोप की श्रांग्न विवेक की शाँति नहीं वन गई है, गांधी ने उसे दवाया ही है।

राजनीतिक वर्ग के लिए यह अनहोनी वात है । जिस शक्ति को चेताकर राजनीति अपना काम चलाती है, उसी को अस्वीकार करके गाँधी ने अपने नेतृत्व का निर्माण किया है। क्रोध, स्वर्धा, द्वेप आदि भक्काकर सब कहीं राजनीतिक दल अपने को संगठित और सशक्त बनाते हैं। यहाँ अकेले गांधी ने ऐसे सब दलों को विजित करके भी जीवित किया है। शासकों के लिए गांधी के प्रभाव का यह पहलू बहुत क्रीमती है, यद्याप राजनैतिक उस पर दंग हैं।

इस प्रकार जनता के साथ ऋभिन्न श्रीर उसका परम-प्रिय होकर भी गांधी उसका शास्ता है। वह शासकों की भाषा में दूसरे शासकों के साथ निवट सकता है। यह मुनिया गाँधी के साथ ही सम्भव है। अन्यथा लोकनेता (Democratic Leaders) लोक-शास्ति भी होते हैं, श्रीर शांति चर्चा में वे विशेष सहायक नहीं हो सकते। गाँधी पूर्णत्या श्रात्म शासित है, इसलिए वह सर्वोच्च शासक-कोटि का व्यक्ति है। शासकों श्रीर नायकों की मंत्रणा में गांधी सिद्धान्तवादी नहीं जंचेगा। श्रीधुनिक राजनेताओं (Diplomats) से गाँधी इसी जगह अलग है। यह अत्यन्त व्यावहारिक है श्रीर उँगिलयों से काम करना जानता है। वह अत्यन्त व्यावहारिक है श्रीर उँगिलयों से काम करना जानता है। वह अत्यन्त व्यावहारिक है श्रीर उँगिलयों से काम करना जानता है। वह

घुमानों में नहीं पड़ता। वह श्रादर्श की चर्चा से काम की बात को श्रलग कर सकता है। श्रमरीकी विल्सन की तरह श्रादर्शवादी योजना में उसका दहकना या उसको वहकाना संभव नहीं है। वह स्वप्नदर्शी होकर भविष्य के लिए वर्तमान को नहीं टाल सकता, न श्रल्पदर्शी राजनीतिज्ञ की तरह वर्तमान के लिए भविष्य को कीमत में दे सकता है।

उसकी नीति संभी है। श्रहिंसा के लिए उसे चर्चा नहीं, चर्खी चाहिये । मानव के विषम सम्बन्ध भावना मात्र से सम श्रीर शुद्ध न होंगे, उसके किए कर्म चाहिए। कर्म यानी श्रम। उत्पादक श्रम की केन्द्र गान कर हमें ऋपने लिए नवीन ऋर्थ-व्यवस्था का निर्माण करना होगा । इससे धन केन्द्रित न होगा। एक ग्रोर दखिता का प्रमाद श्रीर दूसरी श्रीर विलास का आलम उससे समान्त होगा । संग्रहीत धन से श्रीरों में दैन्य श्रीर संग्रहाधिनति में दंभ बढता है। इस तरह लोभ श्रीर द्वीव का चक्कर चल पड़ता है। तत्र ग्रास्त्र-शस्त्र तैयार होते हैं, जिससे सम्पत्ति की रज्ञा श्रौर बद्रवारी की जा सके । इस सम्पत्ति को मूल में लेकर शासन-संस्था का जन्म होता है। श्रापने श्रीर प्रजा के बीच छोटे-मोटे सम्पत्तिशालियों श्रीर अधिकारियों की श्रेगी पैदा करके शासन अपने को अनिवार्य बनाता है। विभाजन इकुमत का मन्त्र है। ऐसी अवस्था आने पर अम की क्रीमत लगभग समान्त हो जाती है और चाइकारिता और चतुराई की कीमत बढ़ जाती है। अभिक दिलत होता है श्रीर हक्काम के स्वार्थ में साधनभूत होकर श्रमहीन श्रपने लिये प्रभुता प्राप्त करता है। ऊपर के लोग तब समय काटने श्रीर खाना पचाने के लिए तरह-तरह के उपाय रचते हैं श्रीर श्रमिक को पर्वाना वहा कर भी समय श्रीर खाना नहीं जुटता। यह वैपम्य जीवन के प्रकृत मूल्यों को भूलाने से पैदा होता है और गांधी का प्रयत्न उन्हीं भल्यों की पनः प्रतिष्ठा है।

गांधी के जीवन में कोई जिंदलता नहीं है। वह सहज और स्वच्छ है। दूसरे की बुद्धि उस पर अपने लिए गोरखधन्या रच सकती है, लेकिन उसमें उलभन नहीं है। उसका मूलभाव है अम श्रीर प्रेम। अम के विना प्रेम विलास हो जाता है, यह नहीं रहता। वह ऐसे श्रक्तार्थ भी होता है। जो प्रेम भोग है वह अमहीन है श्रीर स्वार्थमय है। वही योग होकर कर्म रूप श्रीर पारमार्थिक होता है। अम से चेतना स्वाधीन होती है श्रीर व्यक्ति निर्भीक बनता है। तब बह श्रपने को इन्कार करने की लाचारी में नहीं पड़ता श्रीर श्रपने मीतर के सत्य के स्वीकार में बाहरी किसी बल के भी प्रतिकार को उद्यत रहता है। ऐसा प्रेमी, यानी श्रहिंसक, सत्याग्रही होकर बिग्रीही होता है।

यह प्रकृत मानव-मान का पह शासकों के विचार में कदाचित् ही कभी उपस्थित होता हो। वे दफतरों द्वारा नक्षशों और श्रंक-गणनाश्रों से मानव-जाति की श्रवस्था का श्रनुमान कर श्रवनी व्यवस्था किया करते हैं। जनता उनकी फाइलों में रहती है। उसके सुख-दु:ख के साथ उनके मन के श्रान्तरिक सुशों का विशेष सम्बन्ध नहीं होता। प्रकृत नहीं बल्कि मुखर पद्म की श्रोर ही उनका ध्यान जाता है श्रोर तब या तो लोभ देकर या दमन द्वारा उसे चुप किया जाता है। इन शासकों की व्यवस्था में, अथवा युद्ध में, व्यक्ति एक श्रंक होता है और गणित के सूत्र से उन्नति नापी जाती है।

दूसरी श्रीर भावुक लोग हैं जो समझ के व्यक्ति में विश्व देखते हैं श्रीर वहीं श्रपने राग का केन्द्र बना बैठते हैं। ऐसा राग द्वेप पर पलता है। श्रिधिकांश जन इसी गयाना में श्राते हैं। ये ही फिर शासित होते हैं।

इन दोनों वर्गों में ऐक्यरूप, शासकों में शासक और साधारणों में साधारण, है गांधी। उनकी जनमन के साथ एकता स्थापित हुई है। फिर भी उनकी दृष्टि जनता की अनेकता के पार कहीं ऐसी आंतरिकता पर है कि दायें-बायें असंस्थ मरते हुओं, विलखते हुओं, के बीच भी उनकी गति, या उनकी मुस्कराइट, मन्द नहीं होती। वह निर्ममों में निर्मम हैं। शासक के समान बुद्धि की तटस्थता और मक्त के समान हृदय की आत्मीयता— गांधी एक साथ स्वयं में दोनों का समस्वय हैं। गांधी अपने अकेले व्यक्तित्व में दोनों तटों के संयोजक हैं। आदर्श श्रीर यथार्थ, स्वप्न श्रीर श्रम, धर्म श्रीर राजकारणा, समन्वय श्रीर विश्लेष्णा। इससे इस युद्ध के अनन्तर, जब कि विश्वशाँति परिपद् हो, या जगत्-व्यवस्था के सम्बन्ध में विचार हो, गांधी की उपस्थिति वहाँ श्रनिवार्य है। गांधी न हुए तो उनकी नीति तो होगी ही। उस दृष्टि श्रीर उस नीति से श्रलग किसी दूसरी तरह मानव-हित-साधन श्रीर स्थिर शाँति का विधान हो सकेगा, यह सम्मय नहीं दीखता।



## : ६:

## अगर गांधी जी होते ?

'श्रगर गांधी जी होते?'— यह ठाली की कल्पना कुछ इस श्रादत का परियाम है कि हम गांधी जी की तरफ देखते रहे हैं। उस जिज्ञासा के मूल में शायद यह भाव हो कि वह होते तो हमारे कन्धों पर हमारा ही बोक्त न श्रा रहता।

फिर भी श्रापने उस ढंग से वह प्रश्न सामने सा रखा है ता श्रनुमान को उधर से जाना उपयोगी भी हो सकता है, ऐसा लगता है।

गांधी जी कुछ थोड़े काल इस घरती पर नहीं रहे। सामान्य से काफी ज्यादा उन्होंने आयु पायी और यह सारा जीवन सतत कमें से भरा रहा। विआम और बीमारी का लाम ओसत से उन्हें बहुत ही कम मिला। उनके इस तमाम जीवन-विस्तार में, आदि से अन्त तक, एक सूत्र ज्यापा हुआ देखा जा सकता है। जैसे गांधी जी का जीवन उतना अपना न था, अतः विखरा और बँटा न था; जितना भगवान का था, इससे एक लोकोत्तर लगन में 'पिरोया हुआ था। मानो एक सिद्धान्त, एक जीवन-नीति, एक जीवन-दर्शन का वह प्रयोग मात्र था। उसका स्पष्टीकरण, नित्रीकरण था। मानव-धर्म का वह एक भाष्य था। और मैं मानता हूँ कि उस जीवन को विराम ठीक वहां मिला जहाँ भाव और अर्थ की दृष्टि से गांधी-वाक्य भी विराम पर पहुंच जाता है।

जीवन को यज्ञ बनाना होगा श्रीर मृत्यु को उसका श्रन्तिम श्रर्घ्यं। जैसे यही सन्देश गांघी जी ने श्रपने चरित्र द्वारा लिखा श्रीर श्रपनी मृत्यु द्वारा उसको यथोचित विराम दिया। जहाँ तक 'सिद्धान्त' का पहलू है, कोई प्रश्न गृढ़ नहीं बचता । जैसे हर कुछ गांधी जी के उदाहरण में खुलता हुआ देखा जा सकता है। समस्या—व्यक्ति की, समाज की या राज की—कीन ऐसी बचती है जिसके हल की तरफ संकेत वहाँ न हो। यों समस्याएं स्वयं में समाप्त कभी होने-वाली नहां हैं। ऐसा हो तब तो जीवन का अन्त भी हुआ मानिये। इसीसे देखते हैं कि गांधी जी के उठने के बाद और आसपास समस्याएं जैसे विकट से और विकटतर ही हुई हैं। यानी समस्याओं का निपटाना उनका काम न था। अपनी समस्याएं हमें स्वयं मेलनी और चुकानी होंगी। यह आशा भूठ है कि हमारी उलभनों को लोकोत्तर कोई अवतार आकर सुलभायगा। नहीं, उसके लिए स्वयं हमको जूमना होगा। अवतार वह नहीं है जो इबते को तारता है। वह तो वह है जो स्वयं तिर कर इबते को तिरने की राह सुभा जाता है।

इस तरह गांधी जी के जाते ही लगता है जैसे श्रन्थी श्रीर श्रॅंधरी ताकतों ने हमें घेर लिया है। श्रमाय तो कहीं रहता नहीं, चारों दिशाएं उसे भरने को टूट पड़ती हैं। गांधी जी के तिरोमाय पर भी सहसा लगता है जैसे प्रकाश गया तो जाने कहीं कहाँ से श्रन्थकार जगह भरने को श्रा गया है।

यह स्वाभाविक ही है। गांधी जी का वेग यदि पांव उखाड़ कर हमें श्रपने साथ बहा ले बजा था तो अनिवार्य है कि गांधी जी के जाने पर हम अपने पैर अपने नीचे पाएं और देखें कि गांधी जी के नहीं अब तो हम अपने ही अनुसार बलना चाहते हैं। इसमें असंगत कुछ नहीं है। गांधी जी के रहते जो उनके त्याग पर चले, वे गांधी जी के बाद अपने जोग पर क्यां न आजाते? इस तरह, जान पड़ता है, गांधी जी अपने साथ अपनी राह भी लेते गये हैं। अब हिन्दुस्तान की कांग्रेस और उसकी स्वराजी सरकार उस तरफ से आजाद और बेलाग है। और यह अच्छा ही है।

लेकिन गांधीजी वेग के ही न थे। केवल वेग के लोग तो छाते हैं और चले जाते हैं। मानो वे किसी अन्धी वासना के प्रतीक होते हैं। इससे उनका मृल्य साम्यक रहता है। इतिहास उनके ऊपर से निकल जाता है। जैसे उनमें एक ही सतह होती है, किस्तार; गहराई व ऊंचाई नहीं, जो काल के तल को भेद कर पार भी फैलती है। ऐसे लोग अन्धर के व्यक्ति थे। प्रकाश इतिहास जगाता है। वह सहसाब्दियों के आर-पार दीखता है। गांधीं जी के साथ यह अनिवार्य है कि राजनैतिक चेत्र में जो उनके साथ लगे दीखें वे अब दुविधा में लुटे और खोये दिखाई दें। और गांधी जी के तत्व के लिए वे रह जाँय जा उनके साथ लगे नहीं रहे, विक्त जो स्वयं होकर रहे इससे कुछ अलग और धूर रहे। कारण, वे वेग नहीं प्रकाश चाहते थं। राजनीतिक प्रवृत्तियों में ऐसे लोग कम दीखेंगे। पर गांधी जी की ली बुक्त न पायगी ता उन्हीं के बल पर। एक दिन होगा कि वह लो फैलेगी और ऊंची उठेगी कि जगत् उसके प्रकाश में अपना मार्ग पहचाने और आगे बढ़े।

गांधी जी की प्रवृत्तियां तो अनेक रहीं, पर प्रेरणा एक । समय-समय पर उस प्रेरणा ने अभिव्यक्ति की नबीन भाषा ली । पर निष्ठा सदा सत्योन्मुख रही और गांधी जी, देश या स्वराज्य किसी के खातिर, सत्यतीर्थ की अपनी यात्रा में विद्य नहीं स्वीकार कर सके । अहिंसा में से उन्हें सत्य पाना था । ऐसा था, इसीलिए नई-नई चुनौतीं उनके आगे आई और नित-नये कर्तव्य की पुकार उन्हें प्राप्त होती गई । पूर्णता से और पूर्णता की ओर उनका प्रयाण रहा । कभी वह अपनी ही प्रवृत्ति या अपने ही मन्तव्य की सीमा से नहीं बंधे । और इसीलिये उनसे रचनात्मक कर्म और उसके किमीयों को नई-नई सुक्त और नये-नये सूत्र मिलते चले गये ।

यह पूर्याता से पूर्यातरता की ओर बढ़ते चलने में ही गांधी जी की विशेषता है। कभी वह जीवन अमुक धारणा (रूटीन) की नियमितता में नहीं थिरा। एष्टि का नवनवोन्मेष सदा उसे स्फूर्त, प्रवाही और हरियाला बनाये गृहा । कभी वह जीवन जमकर कड़ा नहीं पड़ा । इस तरह प्रत्येक परिस्थिति श्रीर प्रत्येक सूचना के प्रति उसकी सर्जनात्मक प्रतिमा जागरूक श्रीर श्रचूक रही । जगत् को नाना रचनाश्रों का वह निरन्तर दान करती चली गई ।

'श्रगर गांधी होते'—तो निश्चय दो फरवरी को वर्धा जाते। वहाँ रचनात्मक कार्यकर्ता श्रौर दूसरे श्रहिंसक जीवन-नीति के विश्वासी जमा होने वाले थे। श्रने क सूत्रो रचनात्मक कार्य को पहले उन्हें एक सूत्र श्रौर एक श्रात्मा में गृंथ देना था। वह देख रहे थे कि श्रंगोपांग फैल रहे हैं, श्रात्मा सिकुड़ रही है। देख रहे थे कि संगठन ऊपर जम रहा है श्रोर व्यक्ति तले दब रहा है। किन्तु श्रन्त में तो श्रद्धा को लेकर श्रद्धट रहने वाला व्यक्ति ही है, तंत्र तो जड़ श्रोर सामयिक है। इससे भारत को यदि उचरना है, श्रौर श्रहिंसक रचना यानी शुद्ध संस्कृति का फिर से नमूना बनना है, तो खंड-खंड फैली सूखी प्रवृक्ति में श्रात्मच्च दहकाना होगा। समग्र ग्राम-सेवा का रूप निखारना होगा ऐसे सेवकों को गांव-गांव में जा गड़ना श्रीर इस तरह सच्चे लोकतंत्र को धरती में से उगाने में लग जाना होगा।

यह तो आंतरिक और तात्कालिक काम।

लेकिन इसके बाद ? बर्धा में एकाघ सप्ताह के भीतर इस काम के पूरा होने के बाद ?

सुक्ते निश्चय है कि इसके बाद का काम उनके आगे और भी अमोध होकर स्पष्ट था। उस सम्बन्ध में उन्हें रंचमात्र संशय न था। न रत्ती चूक उनसे उस बारे में होने वाली थी।

हिन्दुस्तान उनकी छाती पर एक से दो हुआ था। उनकी घोपणा थी कि किसी का ईमान 'राष्ट्रद्वेत' है तो मेरा 'राष्ट्रे क्य' है। मैं उसके लिए मर मिद्रंगा। लेकिन फिर भी कांग्रेस की रजामंदी मे हिन्दुस्तान बीच से काटा गया। हिन्दू और मुसलमान, जिनकी एउना उनका व्रत रही, एक वृसरे के गले पर छुरी लेकर टूटे। ऐसी नृशंस नर-हत्या हुई कि कभी न हुई हांगी। करोड़ों श्रादमी घरवार से उखड़ कर वेघर श्रीर वेगाना हुए। गांधी जी की श्रांखों सामने यह हुश्रा! लेकिन गांधी जी ने कहा, "हुक्मतें दो चाहे हुईं, दिल दो नहीं हुए श्रीर नहीं हो सकते।" गांधी जी तो जानते थे, देखते थे, कि सारी मानवता का दिल जब एक है, तब हिन्दू मुसलमान भला कितने दिन श्रपने को एकदम दो मानकर जीते रह सकेंगे। यह तो बच्चों का खेल है श्रीर कोध श्रांर द्वेप की वन श्राई है। गुस्ता गिरेगा तब दोनों रो भी श्रीर गले मिलेंगे। तब पाएगे कि दुई ऊपरी थी, भीतर का दिल तो सदा एकता का ही प्यामा था।

यह श्रद्धा उनसे एक चाण के लिए भी दर नहीं हो सकती थी। इस लिए उन्होंने नहीं माना कि नए वन हुए पाकिस्तान में से जिन हिन्द श्रीर सिक्यों की भाग श्राना पड़ा है वे वापिस वहां नहीं पहुँच पायेंगे । उन्होंने कहा कि पाकिस्तानी मुनलमान को सावित करना होगा कि वह इन्सान है। नहीं तो गांधी जी न खुद चैन लेंगे, न उसे चैन लेने देंगे। सब बर्बारयत के वावजूद वह ब्रानुभव करते थे कि ब्रागर भगवान है तो इन्सान में जरूर है। श्राज वह सीया है तो कल उसे जाग पड़ना है। इन्सान जानवर नहीं हो पायगा। हुआ है, तो नहीं रह पायेगा। मुक्ते तो उसके अन्दर के भगवान के श्रागे श्रलख जगाये ही रहना है। इसलिए उन्होंने हिन्तुस्तान के हिन्दूं से कहा कि, जो भी हो, मुसलमान तुमसं कम इन्सान नहीं है ख्रीर हिन्दुस्तान की जभीन पर उसे वह सब श्रिधिकार होंगे जो एक हिन्दू को हैं। वह श्रान्थक पुकारते रहे कि ऐ हिन्दुओं ! हिन्दू धर्म की मारना नहीं चाहते तो मुनलमान वं साथ सलूक वस्तो । सही कि आग लगी है, मगर यह तो और वजह है कि लगी में और ग्राग न लगान्त्रो। दीवानगी फैली है तो क्या दीवाने वनींगे ? यह मुंह सं कहा, श्रीर वात मनों न उत्तरी, तो श्रनशन के जरिए यही कहना ग्ररू किया!

साफ या कि यहाँ हिन्दुस्तान में मुसलमान की जान की तरफ से उन्हें

जरा ढारस हो कि पाकिस्तानी मुसलमान के सामने उन्हें हो रहना है। श्रीर वहाँ सदा देनी है कि 'ऐ रस्लेगिक को मानने वालों, ऐ दीनदारां, बताश्रों कि क्या हिन्दू को तुम यहाँ नहीं वसने देने वाले हो १ वताश्रों कि क्या हक है जो तुम्हारा है, श्रीर हिन्दू का नहीं हो सकता १ कीन वह दीन है कि जो यह बताता है १ हिन्दू जब तक यहाँ श्रासम से नहीं रह सकता, सलामती से गुजर-बसर नहीं कर सकता, तब तक क्या तुम्हारा यह पाकिस्तान है १ क्या इस तरह वह नापाक नहीं ठहरता १'

मेरे मन में रत्ती भर सन्देह नहीं है कि वर्धों को एकाध सप्ताह देने के बाद उन्हें पाकिस्तान जाना श्रोर वहां सच्चे इस्लाम का श्राहना पेश करके कहना था कि इसमें देखकर कहीं कि क्या तुम मुसलमान हो ?

हिन्दुस्तान श्रोर पाकिस्तान में शरणार्थियों की समस्या कितनी विकट रही, कहना व्यर्थ है। दोनों तरफ के अर्थतन्त्र को उसने मकमोर डाला। हक्मतों के पांव उससे डगमगाये रहे और अब भी डगमग हैं। शरणार्थी जब तक हैं, श्रीर उनकी याद उनके साथ है, दोनों हक्मतों की श्रापसी जलन श्रीर अनवन भी सो नहीं सकती। ऊपर सममोते होते रहेंगे, नीचे आग भी सुलगी रहेगी। श्रम्याय में नींव डाल कर कीन इमारत खड़ी रही हैं। पाकिस्तान श्रगर मुस्लिम राष्ट्र होकर रहता श्रीर उठता है, तो क्या वह मुकाबले में हिन्दू पष्ट का आप ही समर्थन नहीं वन जाता? तब यहाँ हिन्दुस्तान में हिन्दू जातीयता (राष्ट्रीयता) की बाद क्यों कर रक सकेगी? इस तरह आपस का श्रलगाव श्रार वेर-विरोध ही सत्य हो रहेगा। यदि नहीं थे कभी तो श्रव वे दो राष्ट्र होगे श्रीर एक दूसरे के श्राहत में श्रमा हित देखेंगे।

साफ है कि अन्तर्राष्टीय उलकान इस समस्या के आस-पास उलकी ही रहेगी। हथियार के जोर से इसका निकटारा हो सकेगा, यह अम है। दुनिया अब इतनी एक है कि किन्हों दो हकूमतों की लड़ाई दुनिया की सकाई बने यिना नहीं रह सकती। (रहती है तो मान लेना होगा कि बड़ी

١

ताकतों का स्वार्थ उनके द्वारा खेल रहा है।) श्रीर तीसरे महा समर को श्रपने श्रांगन में न्योतने जैसी भयंकर भूल कोई न होगी।

गांधी जी सवाल की इसी जड़ में जाने वाले थे। जातीय होप की रहने देकर आगे खुराहाली ओर शांति के सपने की तरफ नहीं वढ़ा जा सकता। ह्यूमतें इस काम में वेकार हैं। विद्वाप बढ़ा सकती हैं, उसे वे काट नहीं सकतीं। ह मतें चांह-अनचांह स्थापित स्वार्थ बन रहती हैं। इसिलए उनके आस-पास होप मंडराता ओर पुष्ट होता है। पर जनता तो होप में फुंकती ही है, इससे वह जानती है कि होप असली चीज नहीं। गांधी जी के मन में तम था कि जनता, पाकिस्तान की या हिन्दुस्तान की, अन्त में उनकी बात सुनेगी। आखिर सरकारें जनता के हाथ की पुतली हैं। इससे जनता के बीच में जाकर जन-मत को चेताना होगा। कोई सरकार जन-मत जागने पर उल्टी चल सकती ही नहीं है। इसलिए न उन्हें हिन्दुस्तान की हकूमत की तरफ न पाकिस्तान की हकूमत की तरफ व पाकिस्तान की हकूमत की तरफ देखना था। सीधे आदमी के दिल के दरवाजे खट-खटाने में उन्हें लग जाना था। मैं निश्चित हूँ कि यदि गांधी जी होते तो अन्तरांष्टीय राजनीति की बिद्यात पर, अपने मनाक़ों की ओट में, हिन्दुस्तान-पाकिस्तान सुहरों के मानिंद चले नहीं जा सकते थे।

यानी, दूसरा काम गांधी जी का श्रवश्य ही यह होने वाला था कि हिन्दू श्रीर मुसलमान शरणार्थियों को ढारस दें, हिम्मत दिलाये; श्रीर ऐसा लोकमत पैदा करें, हिन्दुस्तान से ज्यादा पाकिस्तान में, कि शरणार्थी श्रपनी-श्रपनी जगह श्रीर श्रपने-श्रपने धंघों में वापिस श्रा वसें। दोनों जगह उनके धर्मस्थान मुरच्चित श्रीर नागरिक श्रिधकार समान रहें।

तीसरी बात, जिसके सम्बन्ध में वह कभी शिषिल नहीं हो सकते थे, यह थी कि शासन कहीं सैनिकता श्रीर सत्तावाद की श्रीर न बढ़े। झन्त में हकूमत को श्रपने श्राप में झनावश्यक हो रहना है। इससे व्यवहार में उसको उत्तरीत्तर उसी श्रीर ले जाने पर ध्यान रखना होगा। इस तरह विकेन्द्रीकरण नहीं, सत्ता का, कमें का, विकेन्द्रीकरण हष्ट है। श्रीधकाधिक

हमको लोकचेतना से काम लेना श्रीर परस्पर सहयोग को उभार कर चलना है। नहीं तो मानव-शक्ति तल में जड़ी-भूत रहेगी श्रीर रगइ-भगड़ श्रीर प्रतिस्वर्द्धी से नाना समस्याएं उत्पन्न करेगी। तब हठात् पैसे के जोर से, यानी स्फीत (Inflection) पैदा करके, सरकार को श्रपने को कायम रखना श्रीर बड़ी-बड़ी योजनाश्रों के नक्शों के फेर में जनता श्रीर उसके सवाल को डाल रखना होगा।

कंट्रोल को गांधी जी कुछ उसी तरह की बला मानते थे। ये आदमी को असहाय और सरकार को सर्व-सहाय बनाने की दिशा का कदम है। इसी राह आगे चलकर सरकारों को अंतर्राष्ट्रीय स्पर्धा में उतरना पड़ता है और युद्धोचोगों की तैयारी बांधनी पड़ती है। मीमोद्यांग भी कुछ उसी तरह की व्याधि हैं। उनसे स्थापित स्याथों की गिल्टियाँ कुछ इस तरह उपजती हैं कि आखिर एक ही उपाय रह जाता है और वह सार्वतान्त्रिक राज्य की स्थापना। उसी को दूसरे शब्दों में कहें 'स्टैट कैपीटलिज़्म'। मीमोद्योंग से पदार्थ की बहुतायत तो होती है, लेकिन उसका आधकांश स्टेट की कृतिम वुमुजाओं को भरने में जाता है और शेर वितरण की विपमता और किटनता। के कारण यथास्थान नहीं पहुँचता। इस तरह मीमोद्योगों से जब कि एक तरफ अमाय की समस्या दूर नहीं होती, तब वर्ग-विग्नह और वर्ग-विद्वा की नई समस्या और उत्पन्न हो जाती है। यही घरती है जिस पर उन । सनार्श्यों की खेती होती है जो जाने अनजाने एकछ स सत्ता को आर्नवार्य वनारी हैं।

गांधी जी कभी यह स्थित नहीं आने देने वाले थे कि अधिकार तो खब मरकार के पास रहें और जनता के पास सिर्फ कर्तव्य । अपनी वाणी से और कमें से वह बरावर वातावरण में यह मावना भरते रहते थे कि राजा तो सेवक है और प्रजा मालिक है। अप्रसर नौकर है और जनता उसको वेतन-देनेवाली। इस तरह अधिकार सव जनता के पास हैं, और अप्रसर के पास केवल कर्तव्य। राजा और प्रजा के बीच सेवक और सेव्य

का सम्यन्ध बदल कर उल्टा हो जाय, राज्य जनता की सेवा करे तो नहीं बिल्क उससे सेवा चाहे,—यह गांधीजी एक च्राय के लिए नहीं सह सकते थे। भूखी और नंगी जनता के प्रतिनिधि होकर वह सरकार से जवाब तलब करने वाले थं। इसी अर्थ में सरकार के वह संरच्छक और सहायक थं। अन्यथा क्या निरंतर और सतत वह बाग़ी ही नहीं रहे १ वही आगे भी रहने वाले थे। सरकारों को सदा ही उनसे थरांते रहना था, नहीं तो उन्हें प्रजा के प्रति विनम्न बनना था।



#### गांधीवाद का भविष्य

श्रापके विशेषांक के लिये कुछ लिखने की श्रापकी श्राज्ञा पर, श्राचरज है, मैं क्या लिखूँ १ श्रापकी प्रस्तावित लेख-सूनी में एक शीर्षक है : "गांधीवाद का भविष्य।" इस विषय पर जब तब मेरे मन में विचार उठते रहे हैं। सोचता हूँ, उनको ही यहाँ स्वरूप देने का यत्न करूं।

एक बात स्पष्ट है। जब तक गांधी हैं तव तक गांधीवाद शब्द ही मिथ्या है। गांधी इतने श्रिधक सजीव श्रीर विकासशील हैं कि वह श्रपने समूत्रेपन में क्या हैं, यह पूरी नरह वांध कर नहीं कहा जा सकता। वह श्रपने जीवनकाल में किसी गांधीवाद को प्रारम्भ नहीं होने देंगे। गाँधीवाद के मानी ही होते हैं कि गांधी शास्त्र की मांति ज्ञेय श्रीर ज्ञात हैं। ज्ञात ही नहीं बल्कि वह ज्यामित-प्रतिपाद्य की भांति सुनिश्चित श्रीर रेखा-बद्ध हैं। लेकिन जो रेखा-बद्ध हैं, वह श्रीर दुः अभी चाहे हो, गांधी वह बिल्कुल नहीं है।

गांधी श्रपने पैर के नीचे ज़रा भी घास नहीं उगने देंगे। वह श्रपने प्रति इतने श्राधिक सच्चे श्रीर इतने श्राधिक सावधान हैं कि व्याख्याकार का कोई घेरा श्रपने चारों श्रीर वह नहीं वेंधने देंगे। वह शुद्ध चैतन्य स्वरूप हैं, विधानाधीन नियम नहीं हैं।

ठीक इसी से प्रश्न होता है कि जब गांधी न होंगे तब भविष्य उनकी बाग्णी श्रीर उनके चरित्र को लेकर कैसे वर्तन करेगा ? क्या गाँधी को लेकर कोई वाद बनेगा, या कि पंथ या धर्म बनेगा ? गाँधी को लेकर भविष्य क्या कुछ करेगा, यह वड़ा गम्भीर प्रश्न है ग्रांर यह प्रश्न ग्रांज के चिन्तक के लिये ग्रानिवार्य है। ग्रांज दिन गांधी का प्रभाव इतना गहरा ग्रोर इतना विस्तृत है कि यह ग्रसम्भव है कि गांधी-नाम की प्रेरणा श्रभी चुक जाय ग्रोर भावी इतिहास को प्रभावित न करे। मेरी तो धारणा है कि भारतवर्ष के ही नहीं, प्रत्युत मानवता के ग्रागामी इतिहास में गाँधो के नाम का बड़ा भाग होगा।

#### पर वह क्या होगा ?

यहाँ एक श्रीर वात साफ़ दीखती है। गांधी का श्रानुशायी स्थयं गाँधी नहीं है। वह स्वयं में गाँधी नही होगा। इसिलये गांधी के व्यक्तित्व की लचक, उस व्यक्तित्व की विविधता श्रीर सम्पूर्णता उसमें नहीं होगी। गाँधी श्रिहिंमक है, श्रानुयाथी श्रिहंसाबादी होगा। वह किमी कदर कहर होगा, एकांगी होगा। वह गांधी की भांति सस्य का शोधक इतना नहीं जितना कि मापे हुए सत्य का रच्चक होगा। सत्य उमके लिये एक उप-लिव्ध श्रीर श्रान्तिम साध्य ही नहीं होगा, प्रत्युत उसके निकट वह एक संपत्ति, एक स्वत्व मी होगा।

गांधी के जीवन में एक महा-समन्वय की अभिन्यक्ति हो रही है। यह भक्त है, पर क्ट राजनीतिश्च भी है। महात्मा है, पर खंसारी भी कम नहीं है। आदशोंपासक है, पर व्यवहार में किसी से कम विचल्त्य नहीं है। आदशोंपासक है, पर व्यवहार में किसी से कम विचल्त्य नहीं है। समन्वय की यह शक्ति गाँधी के बाद धीमे-धीमे कम देखी जायगी। परिणाम यह होगा कि गांधीवाद ग्रादर्श अधिक और लोकतन्त्रोपयोगी बाद कम रह जायगा। यानी गांधी की अनुपरिथित में लोक-नेतृत्व गांधीवादियों के हाथ न रहेगा। गांधीवाद एक प्रकार की पवित्रता और सात्विकता का बोधक होगा। उसकी प्रवलता और तेजस्विता कम हो जायगी। ऐसी परि-स्थित उत्पन्न होने पर लोक-कम की प्रगति और गाँधीवाद इन दोनों में एक प्रकार की रगढ़ अवश्यग्मानी है। उनमें संधर्ण होगा। लोक-कम गांधीवाद को ललकारेगा, दुतकारेगा। संधर्ष जोर का होगा।

ऐसे समय मुक्त को स्पष्ट दीखता है कि गांधीवाद प्रगति की राह में रोड़ा समका जाने लगेगा। त्राशय है कि लोकनायकों और लोकनेताओं का वर्ग अपने कामों में गांधीवाद को एक वड़ी मारी अड़चन के रूप में देखने लगेगा। मेरी धारणा है कि सामने से गांधी के अस्तित्व के लांप हो जाने के वाद कोई पन्द्रह-बीस वर्षों में ही स्थिति इस अवस्था को पहुँच जायगी। गांधीवाद को चुनौती मिलेगी और उसे खुनौती स्वीकार करनी पड़ेगी।

मेरे मन में यह प्रतीति पत्थर की माँति पक्की होती जाती है कि जल्दी ही समय श्रायमा जब कुछ गाँधीवादियों को शहीद बनना पढ़ेगा । वे समाजतन्त्र के प्रति विद्रोही करार दिये जावेंगे श्रोर उनको दिख्डत किया जायमा । वह समय गांधीवाद की परीक्षा का होगा । इसी के साथ यह विश्वास मुक्ते हैं कि कुछ गांधीवादी निकलेंगे जो कब्बे सावित नहीं होंगे श्रीर श्रपनी टेक पर डटे रहेंगे ।

गांधीबाद के परीच्या का यह काल कितने दिन चलेगा, यह कहना किटन है। परीचा तीखी होगी। पर गांधी का नाम जिन तत्वों का बोधक है वे तत्व हारंगे भी नहीं। कसीटी पर वे खरे उतरंगे ग्रीर ज्यों-ज्यों दमन बढ़ेगा गाँधीवाद की लपटें वैसे ही बेसे फैलेंगी। मेरी अपनी धारणा है कि वह विश्व के इतिहास में एक नया युग होगा। दो संस्कृतियों का तव अन्तिम संवर्ष होगा। एक आध्यात्मक, द्सरी मौतिक। गांधीवाद इस समय वाद नहीं रहेगा। यह धर्म हो जायगा। यह उस समय एक ऐसा जबरदंस्त सजीव स्वप्न होगा कि समस्त मानवता उसकी लेकर मुक्ति की चाह में हुँकार भरने लगेगी। उसकी गरज को ग्रीर उसकी रो को रोकना असम्भव होगा। इस्लाम ग्रीर ईसाइयत के प्रारम्भिक फैलाव में जो हश्य गुजरे हैं, उनसे भी महान् हश्य विश्व के भावी इतिहास में गांधीवाद को लेकर घटित होंगे।

लेकिन ध्यान रहे गांधी इस समय तक अपने आप में एक व्यक्ति

श्राथवा चरित्र नहीं रहेगा, प्रत्युत सम्पूर्णतः वह एक स्वप्न, एक Vision हो जायगा। उसपर कोई दो व्यक्ति एकमत न होंगे। श्रीर एक वार जब गांधीवाद गांधी-धर्म बन कर विश्व विजय करता दीखेगा, तब उसमें मेद-विमेद श्रीर सम्प्रदाय-श्राम्नाय वन चर्लेंगे। यानी वह होगा जो धर्मों के इतिहास में होता श्राया है।

गांधीवाद के भविष्य को लेकर जो चित्र मेरी कल्पना में उठे हैं, मैंने अपर दे दिये हैं। मुक्ते उनमें श्रमंगति तनिक भी नहीं दीखती, विल्क एक प्रकार की श्रवश्यंभाविता ही दीखती है।



### नीति या राजनीति ?

गांधी जी रहे तय तक राष्ट्र की राजनीति उन्हीं के चलाये चली । लेकिन जब भी सम्भव हुन्ना, उन्होंने साफ कर दिया कि मैं राजनीतिक नहीं धार्मिक व्यक्ति हूँ। १५ श्रागस्त को जब भारत को स्वराज्य मिला श्रीर खुशियां मनाई गईं, गांधी जी दूर नोश्राखाली में पैदल चूम रहे थे। बरमों से वह काँग्रेस के मदस्य भी न थे। श्रीर जीवन भर कभी किसी राजकीय परिपद बगैरह के सदस्य भी नहीं हुए।

इस चीज का क्या मनल ब है १ क्या राजनीति आवश्यक चीज नहीं है १ क्या किसी तरह भी उस गोण माना जा सकता है १ क्या वह जीवन का मीलिक पहलू नहीं है १ गांधी जी को देखते रावमुच कहा जा सकता है कि बात ऐसी ही है । राजनीति का अपना अस्तित्व नहीं है; नहीं है का आश्य कि नहीं होना चाहिये।

तब ध्यान उन लोगों की खोर जाता है जिन्होंने राजनीति को इतना माया का प्रपंच माना कि उनकी थ्रोर से कोई राजा हो, कैसा भी विधान हो, इससे उनका कोई सरोकार नहीं रह गया ! 'कोउ नप होऊ हमें का हानी' ! ऐसे उदासीन और संत लोग श्रध्यात्म साधना में रहे थ्रोर राजाय्रों को उन्होंने राज करने, भोग करने थ्रौर लड़नें भगड़ने दिया । कानृन ने जुल्म किया तो उनको भगवान के कानृन पर छोड़ दिया गया; क्योंकि जो होनहार है, उसके सिवा तो कुछ हो नहीं सकता ! इस तरह सत्य के, धर्म के श्रीर श्रध्यात्म के कुछ लोग संसार के सोच-विचार को श्रीर काम-धाम को माया का प्रभंच मानकर शुद्ध ब्रात्म-साधना में ऐसे लगे कि उन्हें लंगोटी तक छोड़नी पड़ी ब्रीर मानव सम्पर्क उनके लिये ब्रशुभ हो गया !

गांधी जी यदि धार्मिक थे, तो ऐसे धार्मिक तो न थे। उनको हरदम लड़ते रहना पड़ा। यों तो जेल उन्हें जेल न थी। पर मच तो यह है कि खुले में भी वह कैदी ही वनकर रहे। यानी खाया, पिया, पहना थ्रोढ़ा तो उसी भाँति कि जैसे उन्हें किसी बड़े सख्त अनुशासन के नीचे रहना पड़ रहा हो। अनुशासन वह आत्मानुशासन ही था। इसिलये कम नहीं, अधिक कठोर था। घोर घमसान में उनकी जिन्दगी बीती। ऐश्वर्य थ्रीर वैभव, भीड़ थ्रीर कोलहाल सदा उन्हें घेरे रहे। महा-एहस्थ ही उन्हें कहना चाहिए; क्योंकि दुछ के नहीं, सबके, समूचे राष्ट्र के वह पिता वने ख्रीर अपने पिनृत्व की छांह में अधिकाधिक को लेते चले गये। यानी उनका धर्म राजनीति से कटा हुआ, उसमें विचद्ध ख्रीर तटस्थ न था। विलक दुछ इतना समग्रशील था कि राजनीति उसमें ख्राकर पूर्ति पाती थी। मानों वेचेन राजकारण उस धर्मनिष्ठ में पहुँच कर ख्रपने जिये चैन खुटा लेता था। उसकी धार वहाँ कट जाती थी ख्रीर उसकी कटुता मिट जाती थी। मानों प्रश्न वहाँ समाधान पाता ख्रीर रंवर्ष नमन्वयकी राह पर ख्रा जाता था।

श्राज सन् '& E श्रागस्त के भारत की श्रात्मा के सामने, उसकी जनता के सामने श्रीर नागरिकों के सामने, खौलता हुश्रा एक ही सवाल है। क्या राजनीति को श्रानीतिक होने का श्राधिकार है ?

राजनीति क्या सौ फीसदी राज बनाने, करने, या रखने की नीति होकर बैठ सकती है १ इस नरह क्या उसका समर्थन राज में देखा जा सकता है १ क्या वह श्रात्म तुष्ट होकर बैठ सकती है १ या कि उस राजनीति का राज-सेवा के अलावा किसी ख्रौर के प्रति भी दायित्व है १ क्या उसे किसी छपने से ऊँची ख्रौर स्थायी वस्तु से ख्रादेश लेते रहना नहीं है १

श्राज कुछ ऐसी हालत बन गई है कि जैसे राज्य ही सब श्रीचित्यः का स्रोत हो । कोई ईश्वर न हो, राज्य ही ईश्वर हो । कुछ सिंदियों से ऐसा एक ज्ञान चल पड़ा है, श्रीर वह बेहद छा गया है, कि जैसे मनुष्य के कर्तव्य का श्रादि श्रीर श्रन्त उस समाज में ही देखना होगा जिसका कि मूर्तरूप स्टेट या सरकार है। यह ज्ञान पश्चिम में श्रीचो-गिक युग, वैज्ञानिक युग के साथ उदय में श्राया श्रीर कमशः पकता गया। उस ज्ञान के थोक उत्पादन के कारखानें श्रव भी वहाँ चल रहे हैं।

मारत श्रायात-प्रधान देश है। निर्यात के लिये इसके पास कच्चा माल ही है। जिस माल को सबसे ज्यादा कीमत देकर घन्यमाव से यह देश बाहर से खूब मंगाकर, अपनी श्रात्मा को भी देकर, अपने को सजाता रहा है, वह यही ज्ञान है। यह है श्रार्थिक है, सामाजिक है, राजनीतिक है। यूं किहए कि वह संत्रेप में वह सब कुछ हैं, जो हम समभते हैं कि होना चाहिए। श्रीर उस ज्ञान ने हिन्दुस्तान के श्रादमी को, खास कर उस शहरी श्रादमी को, जिसके पास उस ज्ञान की कीमत देने के लिये थोड़ा बहुत पैसा श्रीर लालच रहा है, श्रगर रंग में नहीं तो बाकी सब लिहाज में हंगिलस्तानी बना दिया है। वह मानता है कि ऐसे वह सम्य बना है, श्रीर वर्वरता को छोड़कर उन्नत नागरिक बन रहा है।

लोग श्राधिक समस्याश्रों का शोर मचाते हैं। कहते हैं, मंहगाई है श्रीर देश दिवालिया होता जा रहा है। श्रायात इतना श्रीषक है कि निर्यात के लिये श्रयना पेट काट करके काफी माल जुटाना सुमिकन नहीं होता। उधार की जरूरत है कि वड़ी-बड़ी मशीनें विदेश से श्राकर बैठ सकें श्रीर उत्पादन बदा सकें!

यात ठींक है, लेकिन इस देश में इतने करोड़ जो श्रादमी हैं, उस महाशक्ति श्रीर महापूं जी का भी हम कुछ लेखा-जोखा लेने को तैयार हैं ? क्या उनमें हर एक स्वयं में विद्या से बिद्या मशीन नहीं है ? उस महा-शक्ति का हिसाब गड़वड़ है तब दूसरा हिसाब किसी तरह ठीक नहीं बैठ सकता। जो मनुष्य को संभालती है, उस विद्या के बिना वाकी सारी विद्या वेकार है। मनुष्य को संभालने वाली विद्या है, धर्मनीति।

ज्ञान जो पश्चिम से ह्या रहा है, जो हमको श्रीर हमारे कामकाज की श्राज चला रहा है, श्रर्थनीतिक है। दूसरे शब्दों में उसे ही कहें राजनीतिक। यह ग्रादमी ग्रोर ग्रादमी के बीच में समस्या ग्रीर रांघर उपजाते ग्रीर वढाने के सिवा कर भी क्या सकता है ! ग्रार्थनीति ग्राविक से ग्राधिक हो। व्यक्तियों के बीच अधिकारों का संतुलन और आपसी समता चाह सकती. हैं। यह समता ऋोर संतुलन स्पष्ट ही दो को मिला नहीं सकते, उन्हें ग्रालग-श्रालग हीं रख सकते हैं। इस तरह जितना भी उस ज्ञान के आधार पर उद्धार-सुधार का प्रयत्न किया जाता है, बेकार जाता है। तनख्वाहें बहती जाती हैं, श्रीर उसी श्रनुपात में श्रसंतीप बढ़ता जाता है। यह वह विगम-चक है जो कभी कट नहीं सकता। ग्रहंकार ग्रीर तृष्णा कभी ग्रापने कंत भर नहीं पाये । इससे उनके श्राधार पर चलने वाले यत्न समस्या की जिंटल से और जिंटल ही बना सकते हैं। सच पूछिए तो आज की धाव-श्यकता गहरा श्रौर भौलिक इलाज चाहती है । दुनियाँ को भारत से श्राधा है। श्राशा का कारण शायद नहीं है, फिर भी ब्राशा है। कारण कि भारत इन दिनों श्रपने में से गांधी जैसे महात्माश्रों को प्रकटा चुका है। वह श्राशा कट गई, तो उसके लिये फिर कहीं और नहीं रह जायेगी। द्रनिया को फिर भारी श्रंधेर श्रोर युद्ध में गिरना होगा।

त्राशा श्रगर थांडी भी भारत से पूरी होनी है, तो वह तभी हो सकती है, कि जब वह श्रपने भगवान को नृभूले और पश्चिम की नक्त में राज को श्रपना देवता न बनाये। श्रव भी सब खोया नहीं हैं। श्रवल भारत श्रव भी देहात में बसा है श्रोर वहाँ स्वास्थ्य है। वहाँ राजधर्म का पता नहीं है, श्रोर राजवादी विज्ञान भी कम ही पहुँचा है। इसलिये देहाती खेतों में पसीना डालते हैं श्रीर श्रन्म निकालते हैं। श्रीर हिन्दू राम-इप्या को श्रीर मुसलमान इजरत मोहम्मद को याद करते हैं कि जो श्रवश्य

राजा थे, पर छोटे से छोटे के बरावर बन कर रहे थे। राज उनके लिये स्राफत था, स्रोर सेवा स्रोर प्रोम उनका स्वभाव था।

वह दृष्टि जो पदार्थ को श्रौर उसके हिसाब को पीछे रखती है, श्रादमी को श्रौर उसके हिस को सामने रखती है, इसिलये जो नैतिक दृष्टि हैं, —वही हमको श्रौर हमारे कामकाज को चलायेगी, तय संकट के टलने की संभावना हो सकती है। नहीं तो बड़ी-वड़ी योजनायें कागज़ खायंगी, धन खायंगी, श्रोर अन्त में हमारा सिर खा जायेंगी। कागज़-शाही श्रोर कानूनशाही से काम चलने बाला नहीं है। कागज़ चलाने वाले श्रौर कानून चलाने वाले सब के सब मेहनती की मेहनत से उगा श्रमाज खाते श्रौर मेहनत से बना माल घटाते है। इस तरह उत्पादन की ज्यादा ही आवश्यकता रहती है। श्रौर विस्मय यह है कि खाने वाले शासक हैं, श्रोर उगाने वाले शासित हैं!

शासन करते हैं, क्योंकि टकसाल उनके पास है। टकसाल से निकले पैसे से अम खिंच आता है। इस तरह पंसा मूल्य बनता है, अम बंकार हा जाता है। उत्पादन सब प्रेम के अम से होता है, पैसा कुछ भी उपजा नहीं सकता। लेकिन राजनीतिक दृष्टि और राजनीतिक व्यवस्था जीवन को पैसे में केंद्रित करती है। इससे सदा ही वह अव्यवस्था पैदा करती है। जब कि नैतिक दृष्टि और नैतिक व्यवस्था अम को मानती और इससे जीवन को व्यक्ति में केंद्रित देखती है। परिणाम यह कि उससे अम का और व्यक्ति का महत्व बदता है, पदार्थ और धन का महत्व उसके ऊपर नहीं आ पाता। मानव समस्याएं नैतिक से अलग किसी भी दूसरी वृत्ति से लेने पर न केवल सुलभाई नहीं जा सकतीं, बल्कि केवल उलभाई ही जा सकती है।

गांधी जी के बाद चाहिए कि जिस अपने कार्सिक रूप को समेट कर वह अदृश्य हो गये हैं, उससे हम भी उत्तीर्ण हों; श्रोर उनके धार्मिक सत्य को, जो सदा के लिये वह प्रकाशित छोड़ गये हैं, हम अपनाकर आगे बढ़ें। कार्मिक उनका श्रानुपंगिक रूप था। घर्म से नियंतित होकर कर्म सहज ही ठीकहो सकता है। इसी तरह हम मूल तत्व पर ध्यान देंगे, नैतिक मूल्य को ही श्रमल मूल्य मानकर चल सकेंगे, तभी हम मानव संयंधों की समस्या का कुछ समाधान प्राप्त कर सकेंगे। श्रम्यथा पदों की श्रोर पदिवयों की होड़ श्रीर श्रापसी उस्ताइ-पछाड़ चलती ही रहेगी। ऐसे जीवन कभी नीरोग न हो पायेगा।



# गांधी-धर्म और कर्मवाद

गांधी जी के जन्म दिन पर हम विस्मय कर सकते हैं कि इस थोड़े से काल में, कि जब गांधी जी शरीरतः हमारे बीच नहीं रहे, हम कहाँ से कहाँ आ गये हैं। ऐसा तो हमको नहीं मालूम होता होगा कि हमने गांधी जी को छोड़ दिया है। उनको हम मानते हैं, उनकी नीति को मानते हैं। मरसक उस पर चलने की कोशिश भी करते हैं। लेकिन देखते हैं कि नतीजा पहले जैसा नहीं आता है। तब उत्साह था, अब निराशा है। तब जो अपने को होमने चलते थे, वे ही अब भोगने बढ़ रहे हैं। वे ऐसा जान कर कर रहे हैं, सो नहीं; शायद अपने वावजूद कर रहे हैं। पर है अबश्य के ऐसा हो रहा है। जिन्दगी जो ज्वार पर थी अब उतार पर दीखती है, और आदमी देवत्व की तरफ उठने के वजाय नीचे पशुता में गिरने को अपने को मजबूर पा रहा है।

गांधी जी का श्रव्य शरीर तो हमारे पाम है। उनका लिखा हुश्रा सब कुछ मंजूद है। उनकी याद भी ताजा है। उनकी खिखावन से लाभ तेने की तबीयत भी कम नहीं है। फिर भी कहीं बुळ कमी है कि फल उला हो रहा है। श्राशा थीं कि भारत उठेगा श्रीर राह दिखायेगा। उसमें से दुनिया को एक नई किरण फूटती दीखेगी। समाधान प्राप्त होगा श्रीर एक नृतन पूर्णतर दर्शन। पर मालूम होता है कि भारत सिर्फ कंगाल हुआ पड़ा है। उस वाहर से धन की श्रीर अन्न की मांग है श्रीर देने के लिए उसके पास कोई बल नहीं है। वहाँ आपसी होड़ श्रीर छीन भपट है, समस्याएं धिरती जा रही है श्रीर अर्थ-व्यवस्था टूटी पड़ रही है। समस्याएं या मुमीवतं गांधी जी के रहते न थीं, सो बात नहीं। पर हम अन्दर से अवश्य अनुभव करते थे कि हम बढ़ रहे हैं, मिल रहे हैं श्रोर हमारे कप्ट हमें दवाने के बजाय हमें श्रोर उमार रहे हैं। गरीव होकर भी तब हम पाते थे कि हम किसी से हेटे नहीं हैं, सम्पन्न हैं, क्योंकि उत्साह श्रीर विश्वास हमारे पास है। कन्धे हमारे भुके हैं तो भविष्य के निर्माण के काम के बोक से, अन्यथा सीना हमारा सीचा है श्रीर हम हक के रास्ते पर हैं। ऐसे में विपद सम्पद बनकर हमारा बल बढ़ाती थी श्रीर प्रतीत होता था कि दुनिया को हम से यह प्रमाण मिलेगा कि अर्थ की श्रीर पदार्थ की सभ्यता श्रीर प्रचुरता नुच्छ है, उसकी अपेदा में श्रात्मवल बड़ा बल है श्रीर उसी बल पर नींव डाल बर आगामी विश्व-सम्यता को उठना सीखना है। वूसरे के श्रीमत शस्त्रास्त्र के मुकाबले में निशस्त्र होकर मारत दीन श्रोर हीन नहीं है श्रीर उसे शपनी रक्षा नहीं खोजनी है। उलटे, दूसरों की रवा के लिए शायद उसी को श्रागे श्राना है।

श्राज निस्संदेह वह हालत नहीं है। तो क्या गांधी को हमने छोड़ दिया ! उनके नाम का छोड़ दिया ! नीति को छोड़ दिया ! नहीं, जानते-बूसते हमने यह नहीं किया। नाम बराबर लेते रहते हैं श्रीर नीति की भी उलट-पुलट करके दुहाई देते रहते हैं। फिर भी कुछ, हमसे उनका छूट श्रवश्य गया है। यद्यपि श्रपने विरते छोड़ा हमने कुछ नहीं है। छूट न गया होता तो इतना श्रम्तर कहां से श्राता ! उजला ही काला बना क्यों दीखता !

हमें पाना होगा कि वह क्या है जो छूट गया हो सकता है !

में समभता हूँ कि वह है यह कि उन्होंने करते हुए कुछ करना नहीं चाहा। जो किया मानों प्रायश्चित के नाते किया। उद्धार क्रीर सुधार के दम पर नहीं किया। बल उन्होंने प्रार्थना का ही थामा। शेप बल को व्यर्थ माना। परिग्रह को पाप जाना। इस तरह उन्होंने संग्रह नहीं किया, पार्टी नहीं बनाई, शासन नहीं जुटाया श्रीर विरोधी की सेवा बजाने श्रीर उसका विश्वास जीतने को ग्रापना सर्वस्व वना लिया। ग्रापनी श्रत्याचार के प्रति सत्याग्रह छोड़ा, मो नहीं । लेकिन विरोधी के हित में श्रापने को निळावर कर देने का यत्न भी नहीं छोड़ा। परिणाम यह हुआ कि जो उनके अपने बने वे तो देहात के रचनात्मक कार्य में फंक दिये गये श्रीर जो श्रलग रहे वे खुशी से, बल्कि सहायता पूर्वक, नेता बनने दिये गये। श्रपनों को गाँधी जी ने ऊंची कुर्सी के बजाय सेवा की धरती दी। जिनका मन राजनीति में था उनको राजनीति से खेलने दिया, पर वहां से भी उनसे जो बन सका सेवा का काम निकाल लेने का ध्यान रखा। शासन व्यर्थ हो जाय और हर ब्रादमी श्रपनी-श्रपनी जगह सेवा-सिद्ध उत्पादन के काम में लग जाय-यह उन्होंने दृष्टि रखी। कांग्रेस से चाहा कि यह पद की तरफ न देखे. जनता की तरफ देखें । कुसीं जनता के कंधीं पर बडती है, सेवक की जगह जनता के चरणों में है। इससे कुर्सा की तरफ उसे नहीं देखना है। कुसों यों है तो किसी न किसी को उस पर बैटना ही है-केवल इसीलिए वहाँ जाकर बैठने की अपने लिए जरूरत पैदा करना सही बात नहीं है। दिन श्रमली वह होगा जब कुर्सी कोई होगी ही नहीं खोर पद सिर्फ दायित्व होगा जिसके साथ वेतन-मत्ते का कोई प्रलोभन न लगा होगा । तब समभा जायगा कि जनता समर्थ बनी है श्रीर उस समय पद का दायित्व सिर्फ खतरा श्रीर वोभ ही रहेगा. किसी तरह भी वह प्रलोभन या पुरस्कार न होगा । तब क्रवीनी का हौसला रखने वाला श्रादमी ही उसके लिए तैयार होगा।

गांधी जी इसी से अपने बारे में कहते थे कि वह राजनीतिक नहीं, धार्मिक हैं। राजनीतिक न होना गांधी जी का असली होना था। बस यही असिलयत उनकी हमसे छूट गई है। हम राजनीतिक होकर जो गांधी जी के होना चाहते हैं सो मानों भीतर में उनका निषेध बन कर ऊपर उनकी दुहाई उठाना चाहते हैं। वह भला कैसे फल ला सकता है? इसीसे देखने में आता है कि गांधी जी की नीति के नीचे अमीति और उनकी अहिंसा के नीचे कायरता पल रही है। गांधी जी की नीति अमीति के लिए सदा चुनौती थी श्रीर उनकी श्रिहंसा हिंसा के लिए भय का कारण थी। पर गांधी जी की मूल धार्मिकता के श्रमाव में वह बात श्रा नहीं सकती। तव उदारता की नीति निकम्मी श्रीर श्रहिंसा नितान्त श्रादश्वे की चीज समभी जा सकती है।

गांधी जी की शक्ति पर इस श्राराम से शासन नहीं चला सकते। शासन और शासक को समाप्त देखने की इच्छा करने वाले गांधी जी थे. उसको सहने वाले न थे। शासक को सदा उनसे कांपते रहना पडा। शासक में से वह सेवक गढ निकालना चाहते थे। ब्लेकिन सेवक श्रपने प्रेम-धर्म को छांड़ कर शासन-धर्म स्रोढने ही क्यों लगा। इसलिए वह पेसा जनतंत्र देखना चाहरो थे कि जिसकी इकाई स्वाधीन, स्वायत्त, फिर भी राष्ट्र (ग्रथवा समष्टि) के साथ सहानुभृति में वंधा एक जनपद हो। प्रत्येक जनपद में सेवा को अपना सर्वस्य मान कर बैठा हुआ। एक समग्र सेवक हो। जनतंत्र के सन का सिरा इस सेवक से आरम्भ हो। जनतंत्र की इस तरह सिंचन देश की सारी भूमि से मिले। वह किसी भी अर्थ में शर्थ-तंत्र न बन पाये, सर्वथा जनतंत्र ही रहे। सत्ता केन्द्र से जब जलती है तब जनतंत्र जन का तंत्र न रह कर श्रर्थ का तंत्र वन जाता है। तब श्रर्थ तो प्रधान श्रीर जन गीया हो जाता है। ऐसा श्रर्थतंत्रता की नीति पर जमने वाला जनतंत्र जन-जन में पराधीनता का बोध बढ़ाने वाला होगा। जाने श्चनजाने उस तंत्र को एक स्रोर केन्द्रीयता स्त्रौर दूसरी श्लोर सर्ध-व्यापकता (तानाशाही) की तरफ फैलते जाना होगा। इसमें तनाव पैदा होगा और फटने की हालत बढती जायगी।

गांधी जी ने नहीं चाहा कि कोई उन पर आसरा डाल कर उठे। उन्होंने सब को आत्म-निर्भर देखना चाहा। उसी प्रकार की स्वावलम्बी आर्थरचना का सूत्र पात किया। स्वाबलम्बन में हार्दिक परस्परावलम्बन आ ही जाता है। जो नहीं आता वह है उत्साह को मारने वाला पराव-लम्बन। वह अर्थ-व्यवस्था, जहां व्यक्ति काम और पूंजी के अमाव में ११६ पूर्वीद्य

श्रमहाय वन कर श्रपने को बेचने को लाचार पाता श्रीर इन्सान की जगह श्रंक बनना स्वीकार करता है, राजनीतिक पार्टी शक्ति के जराने श्रीर जमा करने में यह सभीते की साबित होती है। लेकिन उस प्रकार संवर्ष में से खीची हुई शक्ति के केन्द्रीकरण से उस ब्यवस्था का विकार श्रीर ही है। मनुष्य काम श्रीर पूंजी के लिए पूंजीपति की तरफ न देख कर सरकारी विभाग की तरफ देखने को लाचार बने तो इसमें मनुष्य की पराधीनता किसी भी श्रीर से कम नहीं होती है। विलक संभव है कि यदि पंजीपति नाम के मनुष्य में हृदय पत्थर बन कर रह जाता हो, तब सरकारी विभाग में तो उस हृदय नाम की चीज का होना ही असंगत और अवैध हो रहता हो यानी वहां उस वस्त का कहीं श्रता-पता तक न हो। इसलिए मनुष्य की स्वाधीनता को स्वयं उससे श्रालग ले जाकर इस या उस प्रकार के तंत्र से जुड़ा देखने की भूल की बढावा गांधी जी ने नहीं दिया। उन्होंने कहा कि स्वाधीनता तो हर एक की मुख्ठी में ही है। तुष्णा, ईष्यी, लोभ को कम करके आदमी अपनी जगह पर मन-बुद्धि के पूरे सहयोग के साथ दोनों हाथों से उपजाने श्रीर काम करने में लग जावे तो ऐसे वह अपनी ही स्वतंत्रता न कमा लेगा, बल्कि सब की स्वतंत्रता को भी पास लायेगा ।

राजनीतिक श्रीर धार्मिक में यही श्रन्तर है। सागर में बूंद की गिनती नहीं है, लेकिन धार्मिक फिर भी बूंद को गिनती में लेता है। ऐसा बह श्रद्धा के बल पर ही कर पाता है। बूंद के बदलने से सागर कैसे बदलेगा, बदलेगा भी कि नहीं, इस व्यर्थ चिन्ता के नीचे श्राने से वह सहज बच जाता है। फल जो हो, उसे तो वही करना है। श्रादमी को बचाकर या श्रपने को बचाकर, राज्य पर या दुनिया पर जाना उससे नहीं बनता। यह उसकी क्पमण्डूकता समभी जा सकती है। समभा जा सकता है कि यह अपने में बन्द हो रहना है। श्रासाजिकता का दोप भी उसमें देखा जा सकता है। लेकिन व्यवहार की दृष्टि से भी इसमें इतना लाम श्रवश्य है कि उस व्यक्ति से होने वाला नुकशन उस पर ही पड़ कर वहीं सीमित

हा रहता है, उससे आगे फैल नहीं पाता । लेकिन अगर उससे लाम होने वाला हो तो वह अवश्य ही उससे वाहर की श्रीर जाये विना नहीं रह सकता । फिर भी जो सिर्फ बुद्धिमान है उनको वह दृष्टि नहीं जंचती । वह प्रार्थना को भी नहीं समफ सकता और साधुता को भी नहीं । वह इन दोनों का वासना विलास मानता है । इसलिए वह एक की, बूंद की, भाषा में नहीं, सबकी और सागर की भाषा में सोचना और उसी पैमाने पर करना चाहता है । बूंद सागर में नगस्य ही है, इसलिए त्फान सारे सागर में लाया जा सके तो सब स्वयमेव ठीक हो जायगा—इस फेर में बुद्धिवादी अद्धावादी को उदारता पूर्वक सहन करता हुआ क्रांति से कम किसी भी काम में अपने को नहीं लगा सकता है । वह बेकार रह सकता है, क्योंकि उसने क्रांति आयोगी । उसके ऐसे बेकार काम के फलस्वरूप एजंनीतिक प्रगति बहुत होती है, लेकिन जान पड़ता है कि लोगों के सुन्त हु:ख का मसला वहां का वहीं रह गया है बिल्क वह कुछ और जकड़ ही गया है।

राजनीति में से गांधी जी को प्राप्त करने वाले लोगों से उनका यह अद्यात्मक श्रोर तर्कातीत रूप जो क्षूट रहता है, सो उसकी, चिन्ता राजनीतिक को सताती नहीं है। कारण, वह जानता है कि वह चीज गांधी जी की हतनी व्यक्तिगत थी कि राष्ट्रीय विचार में उसका समावेश श्रावश्यक नहां है। राज्य-संचालन में वह श्रप्रस्तुत है। वह मावात्मक है, योजना से उसका संबंध नहीं है। राजनीतिक का यह श्रमुमान ठोक हो, तो विचार करने की श्रावश्यकता रहती है कि गांधी जी की ही धर्म-निरपेच श्रीर उदार नीति से चलने पर जो इष्ट स्कृतिं नहीं प्राप्त हो रही है, उर्थ की जगह श्रयोगित ही होती जा रही है, उसका कारण फिर क्या है!

यह नहीं कि आज नै तिकता की चिन्ता नहीं है। प्रत्येक राजनेता के चक्तव्य में उसकी भरपूर चिन्ता भरी जान पड़तों है। पर नैतिकता उसके निकट शायद राज्य के लिए है, राज्य नैतिकता के लिए नहीं। गाँधी जी जिसका घोड़ा समक्षते वे उसकी हम गाड़ी समक्षी और गाड़ी की घोड़ा

समभ कर आगे रखें तो क्या श्रचरज कि हम उस तरह से वह गित और पिरणाम न प्राप्त कर सकें, जो गांधी जी हमें प्राप्त करा देते मालूम होते थे। निश्चय ही उनके जीवन-मूल्य खुदा थे। संसार उनके लिए साध्य न था, केवल साधन था। राज्य और स्वराज्य में उनकी कामना न थी, उसके द्वारा उन दुल्वियों को वापस हक के रूप में उनकी सामना न थी, उसके द्वारा उन दुल्वियों को वापस हक के रूप में उनका सुख पहुँचा देने की कामना थी जिसके छीनने में हम स्वयं साधन बने हैं। हम आराम और प्रभुता में रहने वाले लोग अपना प्रायश्चित पूरा करने का अवसर पाय, यदि राज्य का और स्वराज्य का यह अर्थ हो तो उसके पदों के लिए आपाधारी की जरूरत नहीं रह जाती। कर्म का महत्व तब भाव मे आ जाता है और प्रतिष्टा तब कर्म के कर्तृत्व में नहीं बल्कि उसमें के अकर्म-भाव में आ रहती है। निश्चय ही धार्मिक गांधो का मूल्य चाहे जो हो, उनके उत्तराधिकारी सांसारिकों के मन का मूल्य कर्म के कर्तृत्व से बाहर नहीं है। जोर-शोर की कर्म-योजना में से वे लोग वृहद फल उपजा लेना चाहें तो उनकी दृष्ट से इसमें अपथार्थ कुछ नहीं है।

पर उसमें से निराशा ही फिलत होती देखी जाती है। निराशा से फिर कर्म की द्विगुणित वेग भी दिया जा सकता है। शस्त्रास्त्र से लहा जाने वाला युद्ध निराशा से वेग पाये हुए कर्म का ही तो नाम है। लेकिन वेसा बहलावा कथ तक श्रादमी श्रपने को देता रहेगा श्रीर इस तरह स्वयं श्रपने मन की ही संस्कार देने के काम से कब तक छुटी पाता चला जायगा ? 'वह काम टालो मत, इस पल से ही उसमें लग जाश्रो'—यह गांधी जी ने कहा। यह वह काम है जो सब के लिए इसी घड़ी सुलभ है श्रीर जिसें किसी योजना पर स्थिगत करने की श्रावश्यकता नहीं है। यह सीख एक विरक्त संन्यासी की सी समभी जा सकती है। लेकिन यह उन गाँधी जी की थीं जो सच्चे श्रीर पूरे श्रथों में श्राज के मारत के राष्टिपता हो गये हैं। उस नैतिक धन को जो वह कमाकर हमें सौंप गये हैं, चाहे तो हम गँवा सकते हैं। श्रथवा उसे बढ़ा भी सकते हैं। श्रांख खोलकर उसे

खर्च कर डालना चाहें तो इसमें भी कुछ हर्ज नहीं है। लेकिन कहीं हम मानें कि धन तो नैतिक होता ही नही श्रीर जो श्रमल में धन होता है वह तो उनकी सौंपी हुई धैली में हमें मिला ही नही है; श्रीर यह कह कर गांधी का नाम तो हम रखें श्रीर उसकी कमाई को निकम्मा जान कर उड़ा दें, तो यह यहुत भारी सोच की बात होगी।

चर्ले श्रीर खादी की प्रवृत्ति ने दुल कितने गज कपड़ा लोगों की दिया श्रीर इस तरह कुल कितना पैसा मेहनत के रास्ते देहात में पहुँचाया! क्या उससे कई गुना कपड़ा श्रीर कई गुना पैसा स्वराज्य पाकर हम श्रव एक योजना श्रीर एक कानून के जोर से देहात पर बरसा नहीं सकते हैं! पराधीनता के समय का चर्ला-खादी स्वाधीनता के समय के लिए सोच-विचार की चीज नहीं रह जानी चाहिए। इस प्रकार का विचार गांधी की श्रात्मा का गजों श्रीर पैसों की तराजू पर तौलने की नृष्टता के समान हो जायगा। ऐसे हम गांधी के शव पर गांधी के नाम का मन्दिर चाहे खड़ा कर लें, लेकिन इसके लिए हम सपृत की जगह कपूत ही समफ जायेंगे।

गांधी जी ने यदि कुछ किया तो यह कि उन्होंने हमारी 
श्रात्मचेतना को जगाया। कोई जरूरी नहीं है कि इम खादीचरखे से चिपटे रहें, उनके सारे रचनात्मक काम को इम धता बता
सकते हैं। स्वयं उनके नाम से ही चिपकने की श्रावश्यकता
नहीं है। गांधी जी को छोड़ने में मैं किसी प्रकार की कोई वाधा
नहीं देखता। ईश्वर, या इतिहास, ने यह गलत नहीं किया कि गांधीजी
को हमारे बीच से उटा लिया श्रीर हमें श्रपने ही ऊपर छोड़ दिया। ऐसी
हालत में श्रपने को हम सर्वथा स्वाधीन मान सकते श्रीर बना सकते हैं।
लेकिन यह श्रद्धम्य बात होगी कि हम गांधीजी का नामं रखना चाहें,
राजनीतिक भूमिका पर टिकनेवाला काम भी रखना चाहें लेकिन उसे
भावना से परहेज करें जिससे उनका स्व काम श्रीर नाम निकला था।

श्रन्त की श्रोर गांधीजी ने राम-नाम पर लगमग श्रपना सारा जीर

ला डाला । भारत त्राज दो श्रेशियों में बंटा है, श्रीर उन दोनों में त्र्यापसी समभ्त त्र्यौर सद्भाव नहीं हैं। दोनों जैसे एक-दूसरे के प्रति अजनवी बने है, श्रीर एक दूसर को संदेह से देखते हैं। श्रोर जनता का देहाती वहुभाग है जो धर्म से लगकर जीता ग्रीर चलता है। दूसरी तरफ शहरी श्रेगी है जो कर्म से लिपटी है। धर्म श्रीर कर्म के बीच खाई है, जिसको फैशन बढ़ाता ही चला जा रहा है। शहर गाँव पर कपा से देखता है ख्रोर चतराई से वहां की उपज श्रपनी तरफ खींच लेता हैं। कर्म की यही महिमा है। धर्मी गाँच की महिमा यह है कि उग जाता है और अभाव में भी संतोप पाने का प्रयत्न करता है। भयंकर भूल होगी त्रागर गांव के धर्म को स्त्रोर सन्तोप को हम शहर पर लाने के बजाय शहर की चतुराई लेकर गांव को उकसाने श्रीर उभारने हम जा पहुँचेंगे। ऐसे श्राग ही लगेगी श्रीर सव जल जायेगा। वही हो रहा दीखता है। राजनीति जिस कर्म-मद को लह-काकर श्रपना सुधार श्रीर उद्धार का काम करना चाहती है उसके कलेवर में अधिकांश यह विप सभाया हुआ है । उस विप-हर्ण की श्रक्सीर दवा के रूप में गांधीजी के प्रार्थंना के आग्रह और रामनाथ की धन को इस साथ न लिये चलेंगे तो गड्ढे में पड़ने से बचान जा सकेगा। कम्युनिजम बह गाँधीवाद है जिसमें से इत्या करके ईश्वर को श्रलग कर दिया गया है। इस तरह सह सब कुछ होकर अन्त में केवल एक निपंध रह जाता है।

कम्यूनिजम आज शक्ति है। इस घड़ी दुनिवार्य शक्ति है। शक्ति वह निसन्देह घृगा में से आती है। सच है कि शक्ति घृगा के विना नहीं होती। इससे निरा साधुताबाद साम्यवाद का जवाब नहीं हो सकता। गांधी गांधी ये, सिर्फ साधु नहीं थे। योद्धायों में प्रचण्ड वह योद्धा थे। असत् से वह कभी समम्हीता नहीं कर सके थे। इस प्रकार असत् के विरोध में उनमें सदा एक दुर्घर्ष तेज जगा रहता था। ध्वंसवादी जिस भीषण कहरता के साथ संघर्ष को श्रपना ईमान मान सकता है, गांधी जी उससे कहीं कठिन अपूरता के साथ स्नेह को श्रपना धर्म मानते थे। उनमें भी घृणा थी श्रीर वह स्वयं घृणा के प्रति थी। वह घृणा उनमें उनसे कहीं तीत्र थी कि जितनी साम्यवादी में पूंजीपित के लिए हो सकती है। इस तरह गांधी की श्राहेंसा किसी की भी हिंसा से कम प्रखर न थी। वह श्राहेंसा हिंसा को सहकर नहीं रह जा सकती थी, प्रतीकार में उसके समने श्राकर डर जाने को वह मचली रहती थी। श्रयांत् साम्यवाद की वैज्ञानिक घृणा की शक्ति का उत्तर गांधी की घृणा के प्रति वह धार्मिक पृणा की शक्ति है जो किसी तरह दूरना नहीं जानती श्रीर मरते-मरते भी शत्रु में मित्र ही देख पाती है। शत्रु वाद में श्रविश्वास का साम्रज्य हो सकता है, गांधीवाद में न छिपाव है, न दुराव है। वहां सब खुला है श्रीर सब कहीं विश्वास है। जन की श्रोर जनता की मूल सत्यता में, उसकी श्रन्तभू त सत्यन्नित्ते में, बसने वाला गांधी का यह विश्वास किसी भी श्राशंका या बिभीषिका से मुइने या बदलने वाला नहीं है।

गांधी का उत्तराधिकारी आज का भारत धोले में पड़ेगा अगर वह गांधी को लडित रूप में आपनाने बैठेगा। या तो एकदम उसे छोड़ देना होगा, नहीं तो आलंड भाग में आंगीकार करना होगा। ठीक है कि गांधी एक ही हुआ और एक ही रहेगा, लेकिन वहाँ अद्धा जिसका वह प्रतीक था उससे पहले भी थी, बाद में भी रहेगी। वह सबकी है, सबके लिये है। हरएक उसमें आपना हक पा सकता है।

## गांधीजी श्रीर हमारी राष्ट्रीयता

गांधीजी श्रीर भारत की राष्ट्रीय काँग्रेंस के साथ का समय भारतीय इतिहास का सबसे महत्वपूर्ण युग है। उसमें बहुत-सी बड़ी बड़ी घटनाएं घटों, श्रान्दोलन श्रीर दमन हुए, श्रंग्रेजी हुकूमत गई, भारत दो टूक हुआ, श्रीर श्रन्त में गांधीजी सीने पर तमंचे की गोली खाकर घराधाम से विदा हो गये।

उनके बाद से भारत अपनी स्वतन्त्रता से जूम रहा है और अपने को मुसीबत में अनुभव करता है। उसमें से कट कर पाकिस्तान बना है और उस विभाजन में से शरणार्थियों की समस्या आ बनी है। वह समस्या चैन नहीं लेने देती है। वह मजबूर करती है कि राष्ट्रीयता को उल्लट-पलट कर फिर-फिर परखा जाय धोर उसके सम्बन्ध में सही दृष्टि प्राप्त की जाए।

गांधीजी के रहते मारत की राष्ट्रीयता को उनसे मार्ग दर्शन मिलता रहा । स्वयं गाँधीजी को वह भमेला नहीं छुता था । कारण, उन्होंने अपना धर्म अहिंसा माना था । अहिंसा धर्म होने से एक और अनेक की समस्या का उनके मीतर ऐसा समाधान हो जाता था कि तास्विक कोई किंदनाई उन्हें नहीं होती थी । बाहर से व्यवहार की किंदनाई जो आती थी, उनकी आंतरिक अदा से छकर वह कुछ हल ही होती थी, हावी नहीं पाती थी । अपने और अपनी आत्मा के रहकर सबके बनते जाने में उन्हें किंदनाई नहीं हुई । सबके होने के लिए उन्हें अपनी मर्यादा छोड़ने

की आवश्यकता नहीं थी। एक में से ही उन्होंने सबको साधा। अन्त तक कहा कि मैं सनातन हिन्दू वैष्णाव हूँ, उसी में से सब धर्म मुफ्ते समान बनते हैं। वे सब भी मेरे हैं, मैं उनका हूँ। मेरा वैष्णावत्व मुफ्ते यह सिखाता है।

यों यह स्थिति श्रपरिचित नहीं है। स्पी श्रीर मर्मी लोग सब में उस एक को देखते कहे जाते हैं। लेकिन शायद वह एक को इतना देखते हैं कि अनेक को उनकी आँख यथोचित महत्व नहीं दे पाती। गांधीजी ने श्रनेक के, एक-एक के श्रलग-श्रलग, महत्व को कम नहीं किया। वहीं उन का सबसे बड़ा दान है। राजनीति जो दुनिया के कामकाज सम्हालने का दायित्व लेकर अपने लिए प्रभृत्व सम्पादन करती है, गांधीजी से आदेश श्रीर श्रृतमति प्राप्त करने की स्थिति से ऊंची नहीं रह सकी। कारण, राजनीति श्रानेकता में रहती है. उसको पहचानती है. उसके साथ वर्ताव करने में क्रशलता साधती है: लेकिन राजनीति ने पाया कि गाँधीजी उस श्रनेकता को स्वयं उससे भी श्रच्छी तरह जानते हैं। वह छोटी-से-छोटी श्रनेकता (श्रल्पसंख्या) को भी गौरा मानने को तैयार नहीं है, उसका भी श्रादर श्रीर संरच्या कर पाते हैं। श्रादर्शवादी श्रधिकांश यहीं चुकता है। भविष्य के ब्रावाहन में वर्तमान को वह यथेचित मान नहीं दं पाता। वर्तमान श्रीर भविष्य, व्यवहार श्रीर श्रादर्श, के श्रन्तर पर श्रधीर श्रीर व्यय होकर वह बाधा की अपने से बाहर देखने लगता है और उसकी बलात मिटाने की चेष्टा में पढ़ जाता है। यह प्रयत्न जब विफल होता है तो वह श्रीर हठ ठानता है। परिणाम यह तो श्राता नहीं कि श्रानेकता मिटे... होता यह है कि अमेकता में जो अन्तर्व्याप्त ऐक्य सत्र है वह और श्रोभल श्रीर त्तीण बनता है और श्रनेक्य ऊपर के रूपाकार की श्रोर से भीतर की श्रोर मुझ्कर ऐक्य-श्रद्धा को काटने श्रीर खाने लगता है।

गांधीजी जब भारत आये, और फिर काँग्रेस में आये, उस समय यहां कम दल न थे। लेकिन देखा गया कि जैसे समूचा राष्ट्र शनैः शनैः एकः

श्रीर इकट्टा होता जा रहा है। विरोधी हैं, पर मानो वे भी विरोधी नहीं हैं। जिस नीति से यह विस्मय सम्पन्न हुआ वह बुद्धिचातुरी श्रथवा कट्ट्नीति की नहीं थी। गांधी के व्यक्तित्व को देखते हुए कहा जा सकता है कि वह एकदम सरल थी। वह सबको श्रपनी श्रपनी जगह मान्यता देकर चलने की थी। सबको श्रपनी निजता में श्रज्जुएए। रहने देने श्रीर रखने का काम उन्होंने श्रपना मान लिया था, इस कारण किसी को तोड़ने की भाषा उन के लिए श्रनावश्यक हो गई। श्रपने सत्य पर स्वयं डटे रहना श्रीर दूसरे को एवं दूसरे के सत्य को उसी प्रकार श्रवसर देना—इस निपट एक, फिर भी दुहरी, नीति के पालन से उनके द्वारा भारतीय राष्ट्रीयता को वह मार्ग मिलता चला गया जो उसे चाहिए था।

किन्त गांधी श्रीर काँग्रेस किसी भी समय एक नहीं हो सके। स्वयं गांधीजी ने यह नहीं होने दिया। गांधीजी माव में ऐक्य इतना साध सके थे कि शरीराकार में तो विविध और विभिन्न बने रहना ही उन्हें उचित जान पड़ा । परिणाम यह कि जब उन्हें अनुभव हुआ कि काँग्रेस उनसे श्चलग स्वयं श्चपने पैरां खड़े डोने की सामर्थ्य खो रही है. इतनी उन पर निर्भर होती जा रही है, तब उन्होंने काँग्रेस मेम्बरी से भी अपने को अलग कर लिया। काँग्रेस को यदि श्रनिवार्य लगे कि वह गाँधीजी का नेतत्व खोजे श्रीर पाये, तो भी गांधीजी उसके संचालन-सूत्र की श्रापने हाथ में थामने वाले न थे। उनकी ऋोर से यह विभाग मानों जवाहरलाल जी का हो चुका था। परामर्श के लिए वह स्तम थे, शेप में छड़ी थी कि जवाहरलाल काँग्रेस को ऋपनो राह चलायें। गाँधी और जवाहरलाल के संबंध काँग्रेस के पिछले दिनों के इतिहास की कुंजी हैं। जवाहरलाल जैसा गाँधीजी का मक्त दूसरा मिलना कठिन है । पर अपने प्रति खरे रहने की श्रावश्यकता की श्रांतरिक चेतना से भी जवाहरलाल बच नहीं पाते थे। गांधी के प्रति समर्पेश में से जवाहरलाल कुछ भी अपने पास बचा रखना न्वाहते थे. सो नहीं: पर गांधी समर्पण स्वयं लेना न सीखे थे । समर्पण सब मगवान् का है। श्रीर गांधी इतने श्रास्तिक ये कि मानते ये कि कोई श्रलग ईरवर की श्रोर से इसिलए नहीं बना है कि वह अपने श्रलगपन कों, यानी श्रपने श्रलग 'श्रहं' श्रीर श्रलग बुद्धि कों, श्रपने पास न रखें। इसिलए जब जब जवाहरलाल की श्रोर से मतमेद उन तक गया तभी तब उनकी श्रोर से वह सुरिच्चित वापिस जवाहरलाल जी को वापिस कर दिया गया। उसको तोइने श्रोर गलाने का काम कभी रत्ती भर भी गांधीजी ने नहीं किया। जवाहरलाल स्वयं श्रपनी श्रोर से यह करते तो कर सकते थे। पर वह श्रपनी प्रकृति श्रीर रक्त को कहाँ ले जाते १ ईरवर, जो गांधी का समूचा बल श्रीर संबल था, जवाहरलाल की समभ के हाथ किसी तरह न श्राता था। उस धारणा में जवाहरलाल को बिलक श्रंपेर इकट्ठा हुश्रा दीखता था। उस श्रंपेर की जगह बिजली के जलते श्रच्यों में वह 'उन्नित' लिख हालना श्रीर पढ़ देखना चाहते थे। गांधी धार्मिक थे, पर जवाहरलाल श्रांग्व खोलकर धर्म को कैसे मान सकते थे १ धर्म कई थे श्रीर इतिहास बताता था कि वे श्रापस में भगइते श्राये हैं। ऐसी हालत में बहुत उदार हुए तो वह 'धर्म-निरपेच्न' ही हो सकते थे।

इस पृष्ठ-भूमि पर हिन्दू-मुस्लिम समस्या के इतिहास को समभें।
मुस्लिम के वही श्रिधिकार हों जो हिन्दू नागरिक के, यह परिणाम तो दोनों
ही को प्राप्त था। लेकिन जवाहरलाल के लिए जब कि हिन्दू-मुस्लिम दोनों
शब्द वृथा थे श्रीर वहम थे, तब गांधीजी को दोनों धर्म श्रीर दोनों व्यक्ति
प्रिय थे। राष्ट्रीयता जवाहरलाल के लिए इस श्रर्थ में श्रसाम्प्रदायिक थी
कि संप्रदाय से वह मुक्त रहे। गांधीजी के लिए उसके श्रसांप्रदायिक होने का
मतलब यह था कि वह प्रत्येक संप्रदाय के लिए अपनी हो सके।

हिन्दू-मुस्लिम शब्द गांधीजी के लिए प्रतीक थे। व्यवहार की अनेक-ता नाना शब्दों का सहारा लेकर बनती और प्रगट होती है, हिन्दू-मुस्लिम के नीचे गानों भेद की वह समूची भूमिका ही आ जाती थी। भेद के प्रति अधीर और अवशाशील होना क्या मास्तिकता ही न कहलायगी ! वैर वैर से किया जा सकता है, बैरी से नहीं । बैरी मानकर चलने से बैर श्रा ही पड़ने लगता है, पर श्रमल में तो बैरी कोई है ही नही । जो श्रपने के वैसा मानता है वह भूल में है; शायद वह भय में है । बैर को मिटाने दें लिए बैरी को मान देने से शुरू करना होगा । मान ऊपरी नहीं, बल्वि हार्दिक । ऊपर से तो बल्कि चाहे श्रमहयोग श्रीर सत्याग्रह भी चल सकत है ।

इस दृष्टि से गांधीजी ने इस्लामी राजनीति से ऋधिक इस्लाम धर की श्रोर ध्यान दिया। इस्लाम धर्म यदि शांति का है, श्रौर फिर भी श्रगर मुसलमान श्रशांति के लिए तुला दीखता है तो कहीं-न कहीं कोई विकार ही उसमें कारण बना हो सकता है। शायर ससलमान श्रपने करान से दूर चला राया है। मुसलमान के कारण पैटा हुई उल्लम्भन का हल कहीं बाहर से नहीं श्रायगा, वह उसी में से श्राय-गा। वह इसी प्रयत्न में से आयगा कि मुस्लिम अपने को और अपने काम को श्रापने ईमान पर कस कर देखे। गांधीजी ने इसीसे हिन्द को कहा-''सच्चे हिन्दू बना'', मुसलमान से कहा-''सच्चे मुसलमान बनो"। इस तरह हिन्दू के हिन्दू वनने श्रीर मुसलयान के मुसलमान वनने के ह्याग्रह से सम्मिलित भारतीयता या राष्ट्रीयता कैसे पनपेगी, यह शंका गांधीजी को नहीं हुई। उनकी अद्धा थी कि अपनी-अपनी जगह सच्चे इन्सान यनने की कोशिश में से जो निकलेगा वही सच्चा होगा। राष्ट्रीयता भी वही सच्ची होगी। किसी भी धर्म को छोड़ने की ज़रूरत किसी के लिए क्यों पढ़े ? क्या कोई धर्म हो भी सकता है जो त्रादमी को सच्चा और सेवा मावी वनाने के लिए ही न आया हो ? इससे राजनीतिक समस्या की सलकत के लिए काम नीचे गहराई में करना होगा । शायद उतनी गह-राई में कि जहाँ मनुष्य का श्रांतःकरण श्रीर उसका धर्म रहता है। श्रासल वहां है, वहां किया गया काम अपर फूल या फल में ब्राप ही भालक ब्रा-यमा । श्रव: मुख्य कर्तव्य मन का श्रौर चेतना का संस्कार है ।

लेकिन वह न हुआ। गांघी जी को ही वह सब कर जाना था, यह मानना अपने को कमा दे लेना है। गांधीजी अपनी मांति जीकर, चलकर श्रीर हमारी श्रांखो को खोल देने वाली सफलता भी दिखाकर एक जीवन नीति का उदाहरण सामने कर गये हैं। उससे श्रिधिक करना किसी का काम नही है। उस मानव-नीति की भूमिका पर हमारा काम नहीं चल सका। राजनीति का बोल-बाला रहा और राजनीतिक अधिकारों की चाह श्रीर मांग से बाताबरण गर्म बना रहा । गांधीजी श्रंग्रेजी शासन के शत्र , श्रीर श्रंग्रेज जाति के मित्र थे। कांग्रेस राष्ट्रीय होकर शत्रुता समभ सकती थी, मिन्नता नहीं । नीति का वह द्वैताधार (Exclusivism) यदि हमारी राप्टीयता के लिए स्थोकृत हो सकता था, तो वह द्वीत का विष वहीं तक रह जाने वाला न था। ऋं ग्रेज के प्रति हिन्दुस्तानी गौरवपूर्वक द्वेप रख सकता है, तो मुसलुमान हिन्दु के प्रति धर्मपूर्विक श्रपने में इच्यों का भाव क्यों नही उपजा सकता ! श्रर्थात् उम्र राष्ट्रवाद ने यहां भारत में द्विराष्ट्र-बाद को जन्म दिया। जान पड़ा कि भारतीय इस्लाम की आवाज कायटे-श्राजम जिन्ना की श्रावाज है। यह बात कि नमाज श्रीर कुरान से श्री जिन्ना का उतना गहरा वास्ता नहीं है, उस समय किसी के लिए संगत तर्क नहीं रह गई थी। राप्ट्-धर्म मानव-धर्म से खतन्त्र बन स्नाया था श्रीर श्री जिन्ना एक स्वतन्त्र मुस्लिम राष्ट्र के नेता और निर्माता के रूप में प्रवल होते चले गये। जमीयत-उल-उलेमा, जो कुरान के ज्यादे नज़दीक थी. महत्वहीन चीज़ हो गई श्रीर मुस्लिम लीग ज़ोर पकड़ती गई। यह सब गांधीजी के रहते हुआ, जैसे कि राजनीतिक चेत्र के और बहुत-से काम गांधी जी के बावजद होते रहे।

लीग का ईमान साफ था। हिन्दू एक कीम है, मुस्लिम दूसरी कीम है, श्रीर दोनों श्रलग है। सदियों से साथ रहे हैं, पास रहे हैं, सही; लेकिन कौमियतें दो हैं, श्रीर भारत की मुसलमान कीम के लिए एक श्रलग राज्य बनकर ही रहेगा। स्पष्ट ही यह राज्य बँटाने की मीति थी।

सम्मुख उसके गाँधीजी की मानव-नीति थी। उसका कहना था कि

बंटवारा चाहते हो, तो जबर्दस्ती से उसे रोका कैसे जायगा ? इससे जबर्द-त्ती से कुछ लेने की बात में भी क्या सार है ? ऋाखिर क्या हिन्दू मुसल-नान होने से दोनों भाई-भाई नहीं रहे ? बटवारा भाइयों में भी होता है। श्रपने दो के बीच तीसरे श्रंग्रेज़ को लाने से मन में फर्क पड़ता है श्रौर काम श्रासान नहीं होता। यह मान लो कि हम एक कुनवे के हैं श्रौर फिर बाहो तो बटवारा ही कर लो।

पर भाईपने का वातावरणा न था। न कांग्रेस के पास, न लीग के गत । लीग राजनीतिक थी. तो कांग्रेस कम राजनीतिक न थी । श्रॅंग्रेज़ जाने नों तो यहां का अपना राज्य किस पर छोड़कर जाय ! जाने में उनके देर होती जाना भी भाता न था। भ्रारजी जो राजकाज का हंतजाम किया था ग्रह चलता नही दीखना था। खींचतान इतनी थी कि काम ठप था श्रीर प्रमानी चलती थी। कांग्रेस कोई नीति श्रोर सिद्धान्त की संस्था नहीं थी, उसकी जिम्मेदारी तात्कालिक श्रीर व्यावहारिक थी। राज्य उसे चलाना था। रोज की घिस-घिस से क्या लाभ ! चलो, भटके में एक बड़ा आपरे-शन ही सही । इस भाव से, नीति में श्रोर वातावरण में संशय श्रीर हिंसा होते हुए भी, श्रंग्रेज़ के हाथों कांग्रेस ने टूक-टूक हो जाना स्वीकार कर लिया । ट्रक-ट्रक हो जाना इसलिए कि यह काम वाहर से हस्रा था. श्रीर सौहार्द साथ न था। आपस के समर्भांते से होकर वह चीज वंटवारा कह-ज्ञाती श्रीर मन में मैल न छाड़ जाती । पर उस दुकड़े होने में से जो निकला वह तमाम श्रापे श्राने वाले राजनीतिकों के लिए चेतावनी का काम दे एकता है। चेतावनी यह कि राजनीति के लिए मानव-नीति को छोड़ना क्रमी-क्रमी चम्य होने वाला नहीं है !

उसके वाद से मारत की राष्ट्रीयता कसीटी पर है। विभाजन के बाद गांधीजी ने तो ऋपने लिए गस्ता निकाल लिया था। उन्होंने कहा कि हुकूमतें दो हुई है, दिल तो दो नहीं हुए। आगे उन्होंने कहा कि क्या लकीर खिंच जाने से लाहीर मेरे लिए गैर हो जायगा? मैं वहां जाने-श्राने के लिए भला पासपोर्ट की सोचने वाला हूँ ? इस तरह कानूनन श्रगर राष्ट्र दो हो गये, श्रोर उनकी सरकारी राष्ट्रीयताएँ दो हो गईं, तो गांधीजी ने श्रपने निकट इस नये हैं त को स्वीकार नहीं किया। यानी स्वीकृत राष्ट्रीयता से उन्होंने श्रपने को श्रलग कर लिया। या यह कहना ज्यादा ठीक होगा कि यहाँ की राष्ट्रीयता ने श्रपने को गांधीजी से श्रोर गांधी-मार्ग से श्रलग कर लिया।

गांधीजी किसी भी तरह पाकिस्तान में बसनेवाले मुसलमान को अपने लिए विदेशी बनाने को तैयार न ये। स्वयं हिन्दू थे, इसलिए मुसलमान उनका और भी अपना था। पाकिस्तान नाम हो जाने से पंजाब, स्वा सरहद, सिंघ, विलोचिस्तान था पूर्वी बंगाल के बहुसंख्यक मुसलमान लांग उनके लिए इतने पराये नहीं हो सकते थे कि उनकी भूलों और गलतियों को अनदेखीं कर दें। भारत यूनियन में वह धिरकर नहीं बैठ सकते थे। भारत का पाप अगर उनके लिए अपना था, तो पाकिस्तान का भी पाप उन्हें उतना ही अपना था। मुसलमान के पाप के लिए भी प्रायश्चित करना उन्होंने अपना धर्म मान रखा था। इसलिए पाकिस्तान में होते हुए अन्याय पर हाथ पर हाथ धर बैठने के लिए वह मजबूर न थे।

लेकिन कांग्रेसी राष्ट्रीयता अपने हाथ कटा चुकी थी। वह पाकिस्तान के संबंध में असहाय हो चुकी थी। विदेश के रूप में ही पाकिस्तान पर वह प्रभाव डाल सकती भी, या उससे निवटने की सोच सकती थी। आसीय के रूप में उसका मन और मत बदलने, या इस तरह उसको गलती से वाज आने, के लिए मजबूर किसी तरह न कर सकती थी।

नतीजा यह कि मुसलमान के पास एक साथ दो देश हो गए। पाकिस्तान उसका अपना इंमें-भूमि के नाते, और भारत भी अपना जन्म और कर्म भूमि के हक से। पाकिस्तान मुस्लिम राष्ट्रीयता के नारे पर बना था और उसी रूप में अपने को जमाने का ही उपाय उसके पास था। उसकी प्रतिक्रिया में भारत में हिन्दू राष्ट्रीयता उमरी। हिन्दू ने अनुभव किया कि

पाकिस्तान जब कि उसका है नहीं, तब हिन्दुस्तान तों पूरी तरह उसका हो । कांग्रेस को यह स्वीकार न था । उसकी हुकूमत धर्म निरपेद्ध होकर ही चलने बाली थी । हिन्दू-मुसलमान में मेद पालना उसे मंजूर न था ।

भारत की राष्ट्रीयता की स्थिति की यह उलभन जारी ही है । कांग्रे छ भारत यूनियन की सरकार बन चुकी है झीर उससे श्रलग उसकी कोई रिथति नहीं है। बल्कि कहा जा सकता है कि ताकत सरकार है श्रीर उस बल के ग्रमाव में कांग्रे स संस्था निजींव ही है। खान ग्रब्दुल गक्फार खां इस कांग्रेस के अनन्य सेवक श्रीर सैनिक रहे हैं, लेकिन कांग्रेस उस नाम की द्याज सुँह पर भी नहीं ला सकती । यानो कांग्रे**सी राष्ट्रीयता हद-बन्द** है । इस्लाम के नाम पर वरावर में जो एक नया राष्ट्र उसी के शरीर में से कट कर वन खड़ा हुन्ना है, उससे मुँह फेरकर ही चलने की वह लाचार है। वह मुसलमान को इस शर्त पर ही अपने अन्दर समा सकती है कि वह भारत की परिधि में हो। परिधि से बाहर होकर मुसलमान उसके बूते से भी बाहर हो जाता है। हिन्दू इसलिए कांग्रेसी राष्ट्रीयता से श्राश्वस्त नहीं हो पाता। संशय से उसे उद्धार नहीं मिलता श्रीर कोई उसे कारण नहीं दीखता जो भारत के मुसलमान को दतरफा वकादारी से बचा सके। हिन्दू नहीं समक सकता कि सुसलमान को दुहरा लाभ क्यों मिलता चला जाए श्रीर क्यों खुल्लम-खुल्ला भारत की राष्ट्रीयता हिन्दू-राष्ट्रीयता न वन जाए ! हिन्दू -राष्ट्रीयता में, वह कहता है, यह नहीं श्राता कि मुसलमान यहाँ न रहे, इतना ही है कि हिन्दुश्रों के सद्भाव के श्राधार पर ही वह रहे श्रीर देश हिन्द्-देश समभा जाए।

इस तरह गाँधीजी की मौलिक मानवीय राष्ट्रीयता के अभाव में इस समय दो राष्ट्रीयताओं में क्दाक्दी है। दोनों को मौलिक की जगह तान्त्रिक कहा जा सकता है। एक कांग्रेसी और धर्म-निरपेदा, दूसरी संघी और हिन्दू-धर्म-परायण।

यह कि कुछ शक्तियाँ ऐसी हैं जो राष्ट्र श्रीर राष्ट्रीयता का सहारा

नहीं लेती श्रीर वे राजनीति में सिक्रय हैं, राष्ट्रीयता के विचार में विशेष महत्व की बात नहीं है। साम्यवाद राष्ट्र से श्रालग होकर विचार करता हो, लेकिन साम्यवादी दल कहीं भी राष्ट्र के सांचे की या राष्ट्रीय भाव को श्रालग छोड़कर नहीं चलता। शक्ति वह श्रापने लिए यहीं से खींचता है। लेकिन राष्ट्र श्रीर राष्ट्रीयतायें उसके लिए प्रयोजन सिद्ध करने के साधन हैं; इससे धर्म-परायण श्राथवा कि धर्म-निरपेख, राष्ट्रीयता के इन दोनों प्रकारों के संबंध में उसे विशेष चिन्ता नहीं हैं। चिन्ता उसे यदि है तो यह कि लोक-चेतना श्रार्थिक की जगह कहीं नैतिक न हो जाय।

मेरा मानना है कि राष्ट्रीयता का गाँधी-आधार यदि हम स्वीकार करना चाहें तो उसके दूमरे फिलतायों को छोड़ने से नहीं चलेगा। अहिंसा को, यानी समन्वय को, सत्य और सत्य के आग्रह के साथ चलाने से ही भारत राष्ट्र उठ सकेगा और शायद दुनिया के लिए भी कुछ, कर सकेगा। समन्वय में मेल और समभीता है, तब सत्य के आग्रह में से असहयोग और शांत-युद्ध भी निकल सकता है। जब तन्त्र इतने प्रबल और व्याप्त हो रहे हैं, तब मानव की आत्म-प्रतिष्ठा और स्वतन्त्रता के लिए नकरात्मक नहीं बल्कि प्रेश्व रूप में गांधी-नीति को स्वीकार करना होगा।

# ः ३ : श्रहिंसा

## अहिंसा का बल

एक सम्पादक भाई ऋहिंसा के कायल थे। पर गांधीजी के यहाँ उन्होंने देखा कि भजन गाया जा रहा है—

> सुनेरी मैंने निर्वत के बल राम। जब जग गज बल अपनी बरत्थी नेक सरी नहीं कास । निर्वेत हैं यत राम पुकार्यो थाये श्राधे h नास व पद-सुता निर्वेत अई ता विन गहलाये निज धाम I दुःशासन कीं भुजा थकित भई वसनरूप भये श्याम n अपयत, तपवत और बाहुवत चौथा है बलराम 11 सूर किशोर कृपा से सब बज हारे को हरिनाम H

सुन कर इन भाई को गांधीजी की श्राहेंसा पर बड़ी श्राश्रदा हुई। यही क्या बलवान की श्राहेंसा है ? यह तो उल्टे निर्वल बनाने बाली है। ऐसा हरिनाम का भजन राष्ट्र को निर्वल नहीं तो क्या बना-यगा ? यह क्या गुलामी की मनोकृत्ति को बढ़ाना ही नहीं है ? श्राहेंसा ता हमें चाहिए, पर ऐसी रामनाम का आसरा थाम कर चलने वाली बोदी ऋहिंसा से भला क्या होना-जाना है ?

चुनांचे लौट कर उन सम्पादक भाई ने अपने पत्र में लिखा कि त्राहिंसा के नाम पर यह तो निर्वलता की सीख दी जा रही है। महाभारत में पारहवों को विजयी करने वाली हमें कृष्ण की श्राहिंसा चाहिए। इसको अपिन के समान तेजस्वी श्राहिंसा चाहिए। मगतिसह वाली श्रीर शहीदों- वाली श्रिहेंसा चाहिए।

मेरी विनम्न सम्मित में सम्मादक भाई श्राहिंसा को नहीं समभ्ते श्रीर उन्हें उस शब्द के साथ खेलना नहीं चाहिए।

लेकिन सम्पादक भाई को यहाँ छोड़ा जा सकता है और विचार किया जा सकता है कि अहिंसा में वल है, तो किस प्रकार का बल है ? बल ही असल में क्या है ? ऊपर के भजन में सब बल हार जाने पर 'हारे को हिरामा' का बल प्राप्त होना बताया है । इसमें क्या आश्रय है ?

स्रादमी को आज हम पशु से निर्वल नहीं कह सकते। पशु से वह श्रेष्ठ है, यानी बल में भी श्रेष्ठ है। शेर उसके सरकस में है और हाथी पर वह सवारी करता है।

पर यह भी स्पष्ट है कि शोर के पंजे श्रीर दाद के श्रागे श्रादमी नाचीज है, श्रीर हाथी के पाँव-तले श्रादमी की जान वाकी नहीं बच रहने वाली है।

फिर भी श्रादमी उन पशुत्रों से बल में हीन नहीं है, तो क्यों ध

उत्तर है कि जिस बल से पशु बलवान है, उसको तो ग्रादमी ने हेच बना दिया है। उसको तो ग्रब्स ही बनाकर रख दिया है। क्योंकि उसने एक अंचे बल का ग्राविष्कार किया है। उसको बुद्धि-बल वग़ैरह कहा जाता है। उसके ग्रागे पशुबल नपुंसक बना दीखता है।

श्रारम्भ में श्रादमी श्रन्य बनचर प्राणियों में एक था । प्रकृति की

कुपा से मानो वह वंचित था । नख पैने नहीं, दाड़ तेज नहीं । देह से दुर्वल । शीत-ताप से बचने को बालों का लबादा भी उसे प्राप्त नहीं । प्रािश्यों में सबसे अभागा प्राची उसे कह सकते थे । तरह-तरह के अभावों से वह घिरा था और हैरान था ।

पर यह स्रमान ही प्रकृति की स्रोर से स्रादमी की नरदान था। उस स्रादमी के द्वारा विकास को एक कदम स्रागे बढ़ना था। इसी से बह निर्वेल बना, ताकि एक नए बल का स्राविष्कार करे।

श्रादिम मानव की चेतना चहुँ श्लोर के दबाव से श्रिमिभूत हुई। भय से उसे भीत रहना पड़ता था। वह श्रमायास श्रपनी रच्चा करने में श्रसमर्थ था, जीवन-रच्चा तक के लिए उसे पुरुपार्थ की श्रावश्यकता थी। प्रकृति ने उसे श्रभाव दिया, कि श्रमाव में से श्राविष्कार का उदय हो।

तय से श्रय तक सम्यता का इतिहास नए बलों के आविष्कार का इतिहास ही है। प्रत्येक नवीन बल ने पुराने बलों को श्रवल टहरा दिया। श्रमल में नवीन बल का श्राविष्कार सदा ही उस व्यक्ति द्वारा हुआ है जिसके मन में पुराने बलों की श्रवलता पहले ही घर कर गई है। श्राविष्कारक दुनियाबी सफलता से विमुख रहे हैं श्रोर प्रतिभावान धनाकाँची नहीं होते। क्यों ! क्योंकि दुनियाबी सफलता श्रोर धन की यथार्थता से एक ऊंची यथार्थता का श्रामास उन्हें होता है। तब उनके लिए लोकविमब श्रादि श्रयथार्थ ही हो उठता है। समूचे इतिहास के भीतर जिसक्तिसने कुछ दिया, यानी मानवता के धरातल को ऊंचा उठाया, उसने तत्काल के प्राप्य को हैय माना, श्रीर श्रागे की संभावनाश्रों को श्रपनी साधना से संभव बनाया।

श्रहिंसा का बल, बेशक, किसी भी दूसरे लौकिक बल के प्रयोग को स्वेच्छापूर्वक त्यांगे विना संभव नहीं हो सकता। वह श्रहं-बल नहीं है। इसलिए बुद्धि-बल से भी वह भिन्न है। दुनिया में जिन बलों को हम जानते हैं, उनसे वह निराले प्रकार का है। उस बल से बलवान श्रादमी उतना ही श्रपने को बिनम्र मानता है, वह उतना ही सेवक बनता है। क्यों कि वह अहं का नहीं है, इसीलिए वह हरि का है। श्रधीत सच्चा अहिंसक पुरुष अपने को प्रार्थना पूर्वक शूत्यवत मानता है।

इसीलिए श्रिहेंसक शक्ति सम्पादन करने वाले को उत्तरोत्तर श्रिकिंवन बनना होता है। जिसके पास धन के, कुल के, विद्या के, बुद्धि के, बल के गर्व के लिए स्थान बचा है, वह श्रमी श्रिहेंसा के बल का पूरा पात्र नहीं है। श्रभ्यंतर को उन सब से जितना श्रिधिक खाली किया जायगा, उतना ही सच्चे श्रिहेंसा के बल को व्यक्तित्व में श्राने का श्रवकाश होगा।

जो आस्तिक है उसे अपने ईश्वर के सिवाय दूसरा और सहारा ही क्या चाहिए ! इसिलए उसे अस्त्र भी नहीं चाहिए । अस्त्र शंका में से और भय में से आता है। लेकिन आस्तिक को शंका कैसीं ! और उसको भय कैसा ! मृत्यु में भी क्या वह अपने ईश्वर की कृया और उसके आदेश को ही नहीं देखता ! इसिलए मृत्यु की मेंट में भी उसे कोई फिफ्क नहीं है। वह समभावी है। उसे अविश्वास की जरूरत नहीं, क्योंकि वह आत्म-विश्वासी है। किससे लड़ने की वह अस्त्र वांधे ! उसका ईश्वर तो सब कहीं है ।

इसलिए प्रार्थना में से ही वह अपना वल प्राप्त करता है। वह यल काक्यय में से बनता है और स्नेह उसके दान का स्वरूप होता है।

क्या हम जिसे बल कहते हैं उसे भीतर से समभाने का प्रयास उठा सकते हैं ? अगर उठा सकते हैं तो हम देखेंगे कि उस प्रकार के हरेक बल के नीन्ये एक निर्वलता की अन्स्वीकृति है । कोध में ताकत है, पर क्षोध में समभा की कमज़ोरी है और उस कमज़ोरी को न मानने की क्षांशिश है । शेखी अन्दर की कमी की अनुभूति को दकने के लिए बनती है । बहादुरी, सिपाहियाना बहादुरी, कीन कहे कि एक प्रकार के भय का ही बचाव नहीं है ? अर्थात सब प्रकार का आई-बल अपने भीतरी निर्वलता की विमुखता में से आता है । मीतर ही मीतर हम जानते हैं कि हम निर्वल हैं, पर मानो हम अपने को ही जतलाना चाहते हैं कि हम निर्वल नहीं है । इसी इन्द्र की स्थिति में से तमाम लौकिक बलों का जन्म होता है । लेकिन जब हम खल कर धन्य भाव से अपनी अवलता का स्वीकार

करते हैं श्रीर उसे मानों श्रासुश्रों के रूप में ईश्वर के चरणों में, जो ईश्वर कि सब शक्तियों का स्रोत है, विसर्जित कर देते हैं, तो वह श्रात्म-शिक्त प्राप्त होती है जो कभी हार या दूट नहीं सकती। वह मूल तक खरी है, वह विनय की लचक से लचकीली है, वह श्रद्धा पर कायम है, वह श्रार्थनामय है।

इम दुनिया का इतिहास देखते तो हैं। सम्राज्य बने, साम्राज्य ध्वंस हो गए। सरकारें वदलीं, क्रॉतिया हुईं। एक राज्य के शव पर दूसरा राज्य कायम हुन्ना। राजा हट गया तो पार्टी त्रा गई। पार्टी गिरी कि श्रिधिनायक उठ खड़ा हुआ। इस तरह एक-एक श्रादर्श के नाम पर हम भार-काट मचाते और विधानों के साथ प्रयोग करते हुए चलते ही चले आए हैं। इस जान गए हैं कि स्वतंत्रता, समता, एकता ऋगदि-ऋगदि के पीछे खुन बहाते हुए हम बढ़े हैं, तो इस पार श्राकर यह भी पा लिया है कि हम मृग-तृष्णा के पीछे ललकते रहे हैं। हिंसा का रास्ता बंधुख तक नहीं पहुँचा सका, नहीं पहुँचायेगा । तर्क की माया है जो हमें सब कुछ समका देती मालूम होती है। आदभी कब अपने को छल नहीं सकता १ पर आहिंसा के बल से ही एकता बढ सकती और विश्व-बंध्रत आ सकता है। वयोंकि यही बल है जिसमें अहंकार का पोपरा नहीं होता. विलक विसर्जन होता है। नहीं तो तरह-तरह के श्रादशों के नाम पर श्रीर राष्ट्रीयता के नाम पर श्रहंकारों को पृष्ट किया जाता है। उससे चंधन ही बढ़ सकता है, स्वतंत्रता के दर्शन नहीं हो सकते । कारण, शासन-पदीं पर बैठे हुए लोगीं में अदल-बदल हो जाने से जन-खातंत्र्य का किंचित भी सम्बन्ध नहीं है।

इसिलए जिससे मानवता का सच्चा हित होगा, जिसमें छल की संभावना नहीं है, वह बल सेवा का बल है, श्रदा का वल है, ईश्वर के समझ अपनी निरीह अकिंचनता की सम्पूर्ण स्वीकृति से प्राप्त होने बाला निरहंकारी दल है। दाकी सब अवने ही भीतर की राख्सी माया है।

## अहिंसा और मुक्ति

इधर बार बार मेरे मन में प्रश्न हुआ है कि जीवन-मुक्ति अथवा मोख क्या १ यह प्रश्न किसी शास्त्रीय तत्व की जिज्ञासा में से नहीं बना है। जीवन की आवश्यकता में से ही मेरे निकट वह तो उपस्थित हो गया है। श्रीर उसका उत्तर हर बार उत्तरोत्तर स्पष्टरूप में आपने भीतर से मुक्ते यही मिला है कि जीवन की मुक्ति आहिंसा में है।

श्रहिंसा में कहा, श्रहिंसा द्वारा नहीं कहा । कारण, श्रहिंसा साधन या सीदी नहीं है जो कभी अनावश्यक हो जाये । वह एक ही साथ साध्य भी है जिसकी श्रावश्यकता कभी निश्शेष न हो । उसका प्रयोग सर्वव्यापी है । उसे लाँघा नहीं जा सकता । इस श्रर्थ में वह परमधर्म है । वह कोई श्रवल स्थित नहीं है, सतत कियमाण्ता है । उसमें गति को अनन्त श्रवकाश है । श्रर्थात् कोई यह नहीं कह सकता कि वह श्रहिंसक है, कह यही सकता है कि श्रहिंसा का प्रयासी साधक है । इसी श्रपेक्षा में श्रहिंसा द्वारा की जगह श्रहिंसा में मुक्ति की उपलब्धि है, यह कहना मुक्ते श्रधिक यथार्थ मालूम होता है ।

ये शब्द कुछ मारी श्रीर व्यवहार से दूर गए हुए से लग सकते हैं। पर श्रमल में ऐसा नहीं हैं। सन्व पूछिये तो नित्य प्रति के व्यवहार के प्रश्नों को लेकर इन शब्दों की सस्यता मेरे लिए श्रीर मी श्रनिवार्यता से प्रगट हो श्राती है।

मुक्ति और मोच्च शब्दों में प्वनि कुछ शास्त्रीय त्रा जाती है। पर क्या

हर समय इम अपने को बंधन में नहीं अनुभव करते ? क्या व्यक्ति श्रीर क्या राष्ट्र के रूप में इम स्वतन्त्रता के लिए ही नहीं छुटपटाया करते ? क्या हर कोई—व्यक्ति, दल, देश या साम्राज्य—परिस्थितियों से अपने को जकड़ा हुआ ही नहीं पाता और उनसे आजाद हो जाना नहीं चाहता ? क्या हम कह सकते हैं कि जो विश्रह और संघर्ष हमारे कौदुनिवक, सामा-जिक श्रीर विश्व-व्यापी जीवन को अशान्त और अस्त-व्यस्त किये हुये हैं, वे अपनी-अपनी स्वतन्त्रता की इच्छा और चेष्टा में से ही हमने नहीं उपजा लिए हैं ? श्रीर क्या अन्ततः उनसे मुक्ति ही इम नहीं चाहते हैं ?

इस तरह मुक्ति कोई पारलीकिक लक्ष्य नहीं, हमारे हर कर्म श्रीर ज्ञा की श्रावश्यकता है। ऐहिक श्रीर ली.किक लज्ञ भी उससे दूसरा नहीं है।

किन्तु समस्या भी ठीक इसी जगह है। जगत में असंख्य जीव हैं। सबको स्वतन्त्रता चाहिए। मैं अपनी श्रीर तुम अपनी स्वतन्त्रता चाहते हो। इसमें संघर्ष श्राता है श्रीर शिष्ट व्यवहार यह सूत्र निकलता है कि जहाँ से दूसरे की स्वतन्त्रता का श्रारम्भ है वहीं एक की स्वतन्त्रता की सीमा है।

श्रव विचारणीय है कि जो सीमित है, क्या वह स्वतन्त्रता सक्ची हो सकती है ! इसलिए व्यवहार में वह सूत्र कभी पूरा नहीं उतरता है। सीमाश्रों पर लोगों की श्रलग श्रलग स्वतन्त्रताएँ सदा ही रगढ़ खाया करती हैं श्रीर इस प्रकार नये नये युद्धों को जन्म मिलता रहता है।

कहते हैं कि राज्य में एक राजा ख्रोर जंगल में एक शेर रह सकता है। यानी उस राज्य में यदि कोई स्वतन्त्र है तो वह एक राजा, ख्रोर जंगल में कोई ख्राजाद है तो शेर। स्पष्ट है कि पेड़ों के ख्रीर राजनीति के जंगल की यह स्वतन्त्रता शेप सबकी परतन्त्रता के ख्राक्षय पर ही एक के लिए संमध बनती है। स्पष्ट ही मेरी स्वतन्त्रता पूर्ण तभी है कि जब तुम या कोई ऐसा न रहे जो मेरे रहते श्रपने को गिने, इसी तरह तुम्हारी स्वतन्त्रता यह चाहेगी कि कोई दूसरा ऐसा न रह जाये कि जो तुम्हारे रहते श्रपने को स्वतंत्र माने। इस पद्धति से दूसरे की पराजय में एक की सफलता श्रीर उसको पराधीन रखने में श्रपनी स्वाधीनता है।

सचमुच यह प्रतिपादन करने वाला एक जीवन-दर्शन ही बन खड़ा हुन्ना है। इए उसे भी मुक्ति है, पर वह उसकी सिद्धि संवर्ष में से देखता है। युद्ध उसका माध्यम है; राजनीति उसका चोत्र है, वह श्रहं-शक्ति को प्रवल से प्रवलतर, यहाँ तक कि श्राह्वितीय, बनाकर व्यक्ति को श्रपनी मुक्ति सिद्ध करने का मार्ग दिखाता है। वहाँ व्यक्ति लाखों को श्रपनी श्राज्ञा में लेकर, उनके ऊपर बैठकर, श्रपने को बन्धन-हीन श्रनुभव कर सकता है।

इसी को प्रकृति-विशान माना जाता है। इसमें जीव जीव का मं।जन है श्रीर वल ही न्याय है। यहाँ सबल होना ही एक धर्म श्रीर निर्यल होना ही एक पाप है।

रामका जाता है कि श्रानंत इतिहास में से जीवन का विकास इसी पद्धित से हुआ है। प्रवल जिया है श्रीर निर्वल के प्रति दया पालन की वात पर वह क्का नहीं रह गया है। गति इसी प्रकार सिद्ध हुई है श्रीर कालचक किसी ममता को नहीं जानता है। देखो विधाता को श्रीर प्रकृति के विधान को। क्या वह निरंकुरा, निर्मम श्रीर निरपवाद नहीं है ? क्या द्वन्द्व ही जगत का नियम नहीं है ? श्रीर यदि समस्त प्रकृति का नियम संघर्ष श्राथवा हिंसा है, तो मानव समाज का भी नियम उससे दूसरा नहीं हो सकता।

यह विचार-दर्शन खत्यन्त तर्क-पुष्ट है। बेशक उस तरह तमाम सृष्टि के मध्य में अपने को मानकर उसका आकलन किया जा सकता है। अपनी निजता की भाषा में व्यक्ति अपनी स्वतन्त्रता देखे तो सहसा इसमें कोई अनौचित्य नहीं प्रतीत होता। एक-निष्ठ व्यक्ति हट संकल्प के हारा. दूसरे को कुचलते हुए, विजेता वन गये हैं—हितहास भी तो यह दिखाता है।

किन्तु इसी जगह श्रदक भी है। यदि जीव श्रनेक हैं, श्रीर सबको मुक्ति इप्ट है, तो सच्ची मुक्ति क्या वही न होगी जो दूसरे की सत्ता से दक्कर न ले, यहिक उसको श्रपने में समाले !

यह सम्भव हो सफता है कि दूमरे को दबाकर मैं प्रसन्तता श्रनुभव करूं, पर दूसरे को बन्धन में डालकर जो सुख मुक्ते प्राप्त होगा उसमें मेरे श्रपने निज के लिए भी बन्धन के तत्व गर्मित होंगे। श्रर्थात् हिंसा के श्राधार पर प्राप्त हुई स्वतन्त्रता श्रन्त में एक प्रकार की परतंत्रता ही सिद्ध हो जाने वाली है। वह सब मुक्ति जिसकी जड़ में किसी श्रन्य के लिए वंधन की श्रानिवार्यता है, श्रसल में मुक्ति नहीं केवल मात्र एक छल है।

यही स्थल है जहाँ बुद्धि-भेद देखा जाता है। सावधानता की भी इसी जगह श्रावश्यकता है। मुक्ति हम दो प्रकार की मान सकते हैं—

- (१) श्राकाँ बाश्रों की मुक्ति, श्रीर-
- (२) श्राकाँ जाओं से मुक्ति।

श्राकाँ जाश्रों की मुक्ति तो श्रयल में श्रोर बन्धन को निमन्त्रण देने बाली ही है। श्राकाँ चाश्रों से ही मुक्ति है जो मुक्ति सच्ची हो सकती है।

सामान्यतया धन इमको स्वतंत्रता देता है। धन हो तो मन बन्धन श्रमुभव नहीं करता। धन रहते हम जो चाहे कर सकते हैं। जिसके पास श्रपार धन है वह अपार स्वतंत्र लगता है। कोई इच्छा नहीं जिसको वह पृश्ते न कर सके। धन और प्रभुता है तो मनुष्य की सब कामनायें सफल हैं। क्या हम ही नहीं श्रमुभव करते कि हमारे पास श्रोर पैसा हो तो हमारी जकड़ दीली हो श्राये और हम कुछ श्राधक खुल जायं !

इस जगह हम बुद्ध श्रीर महाबीर के चरित्र से प्रकाश पा सकते हैं।

वे राजकुल में जनमे, उन्हें क्या सुलम न या ? लेकिन मुक्ति की खोज में उन्होंने सब कुछ छोड़ा। जो साधारणतया चाहा जाता है, उस सबके सम्बन्ध में श्रात्यंतिक श्रकिंचनता उन ने स्वीकार की। वह जान बूमकर यहाँ तक परतंत्र बने, कि कोई मिचान दे तो उन्हें भूखा रह जाना एड़े। जिससे सब काम निकलते हैं, उस धन से वे शूत्य हो गये। श्रनुमान की जिये कि वे इस तरह कितने न पराधीन हो गये होंगे। लेकिन यह भी स्पष्ट है कि मुक्ति का मार्ग उन्होंने ही हमारे लिए खोला है। शेप महापुरुष भी जिनको लोग पूजते हैं उसी एक श्रनन्य मार्ग पर चले हैं। श्रीर हम मानते हैं कि मुक्ति का लाभ श्रीर दान किया तो इन श्रेष्ठ श्रीर श्रक्षिंचन पुरुषों ने ही। वह मुक्ति ऐसी थी कि जिस पर कोई सीमा श्रीर समाप्ति न थी। उस मुक्ति में से मानों सभी को कुछ न कुछ श्रंश मिला।

धन से और सत्ता से मिलने वाली स्वतन्त्रता, और प्रेम और प्रार्थना में प्राप्त होनेवाली मुक्ति, के अन्तर का क्या हम सबको स्वयं शोड़ा बहुत अनुभव नहीं है ?

पहले में श्रामिमान पूलता है श्रीर श्रानिवार्य रूप से उसकी फिर प्रतिक्रिया होती है। उससे कवाय की वृद्धि होती है श्रीर हमारे मन पर सूदम बंधन लिपटता जाता है। दूसरे प्रकार की मुक्ति का श्रानन्द श्रविकल श्रीर अंतर्थ है। स्पष्ट है कि कपाय में हम स्वतन्त्र नहीं हो सकते, श्रिधिकाधिक बँध ही सकते हैं। श्रहें कार बढ़ेगा, उतनी ही बंधन की जकड़ कसेगी। श्रहंकार जातीय या राष्ट्रीय होने से श्रपने गुर्ग में बदल नहीं जाता। इससे मुक्ति का रूप कुछ वही हो सकता है जहां श्रहंकार का विसर्जन हो श्रीर सब में श्रात्मीपम्य का विकास हो। यही श्रहंसा की साधना है।

बारीकी से देखें तो मानवता का इतिहास श्रिहिंसा की श्रोर ही बढ़ रहा है। जब हम धन चाहते हैं, तो इसलिए चाहते हैं कि उससे श्रापने प्रेम को चिरतार्थ कर सकें। श्रिर्थात् लोक-कर्म में, जिसमें हिंसा गर्भित है, हम प्रवृत्ति इसी आधार पर कर पाते हैं कि आंतरंग आपने प्रेम की यानी आहिंसा को निष्पन्न कर सकें। जाने-अपनजाने अपने समस्त कर्म-न्यापार की हिंसा में से हम आहिंसा की चरितार्थता की खार बढ़ रहे हैं। यहाँ तक कि हिंसक दुद्ध भी कुछ-न-कुछ आहिंसा की पहचान की ओर ही हमें बड़ा जाते हैं।

किन्तु आज हम उस जगह पर आ गये हैं जहाँ यत और वंधा से हमें आहिंगा की दिशा में पग रखना होगा। वे सब आदोलन जो सचमुच स्वतन्त्रता की चाहते हैं—चाहे फिर वह व्यक्ति, जाति अथवा राष्ट्र की स्वतन्त्रता हो—मूल में आहिंसा की परमावश्यकता से विमुख नहीं हो सकते। विमुख होंगे तो अपनी लच्य सिद्धि में तो विफल होंगे ही, साथ में एक गम्मीर निराशा के भी शिकार होंगे। आहंता बढ़कर दूमरे की आस्मता को खुनीती दिये वगैर रह नहीं मकती। इस तरह विकट युद्ध विकटतर युद्ध का बीज ही वो जायगा। इस विजयक की समाप्ति तय तक नहीं है जब तक कोई निश्चित रूप से शस्त्र को फंक कर आहिंसक निर्मयता को अपना नहीं लेता आरे स्वय को आमयदान देता हुआ हिंसा को अपने कपर वार करने का निमन्त्रया ही नहीं देता।

यही ऋहिंसा है, जिसका भोजन हिंसा है। जिसे हिंसा से भय नहीं, प्रत्युत हिंसक से प्रीति है। जो स्वयं श्रमर है, इससे हिंसा के विकार की चृत्यिकता जिसे प्रत्यदा है। जिसमें श्रातुल भैयें है श्रार जीवन के प्रत्येक खंड के प्रति जिसमें करणा है।

इस श्रहिंसा का विचार जरूरी वनाता है कि हम श्रहिंसक समाज रचना की पूरी परिकल्पना उपस्थित करें। इतना ही नहीं, विल्क अपने बीच तदनुकृत समाज संघटन का निर्माण करें। श्रहिंसा यदि अन्य सद्-गुगों की भांति केवल मात्र एक सद्गुण ही नहीं बिल्क घर्म है, यानी सिंछ में मूल मूत एक शाश्वत नियम है, तो आवश्यक है कि जो लोग उस श्रहिंसा में निष्टा रखते हैं वे नव जीवन के निर्माण में सचेष्ट हों। आज के

महायुद्ध के बाद सचमुच दुनिया को वदल रहना है। इस विभीपका में से नव-जन्म का आविर्भाव होना है, दुनिया को नये सिरं से बनाने का सवाल ग्राने वाला है। राजनीति ग्रीर समाजनीति की पुरानी भीमकावें हिल गई हैं। उनका मानों दिवाला निकल चका है। मेरा विश्वास है कि विचारकों को युद्धोपरांत वरवस उस सनातन सत्य श्रिष्टिंसा की श्रोर लौट कर ग्राना पड़ेगा । सच यह है कि उस श्रहिंसा की हमने शास्त्रीय वनाकर निकम्मा कर दिया है। श्रपनी निष्क्रियता से उस शब्द के तेज को ही हमने नष्ट कर दिया है। अपने जीवन की निष्ठा और समर्पेग का तत्व डाल कर ही हम उस ग्रहिंसा को पुनक्रजीवित कर सकते हैं। किताब की अहिंसा तो योखप की लाइबोरियों में भी बन्द है। मांग उस ऋहिंसा की है जो जीवन में ज्वलंत हो। यही विश्व की पर्नाचना के सम्बन्ध में कुछ प्रकाश दे सकेगी। उस प्रकाश की आव-श्यकता है। वारूद के श्रीर वादविवाद के ध्रुयें से श्रुधेरा खाया हुआ है। इस ग्रंधेर में ग्रापा-धापी ही चल सकती है। ग्रारे, इस ग्रंधेरे में जाने क्या नहीं हो रहा है। ऐसे में प्रकाश चाहिये है। यदि श्रापके भगवान महावीर ने प्रकाश के स्रांत की पाया था तो उसकी दुहाई से काम नहीं चलने वाला है। स्वयं उस स्रोत से मिले प्रकाश की जगत् के सम्मुख करना होगा।

सच, इस समय बुद्ध त्रीर महावीर के धर्म को जो मानते हैं उनका बोम्त भाषी है। वे चाहें तो उस बोम्त को पटक सकते हैं। लेकिन श्रगर बे उसको उठाये ही रखना चाहते हैं, श्रीर चाहते हैं कि वे महावीर के श्रमुयाथी माने जायं, तो जरूरी हो जाता है कि वे उन की ज्योति से श्रमुयो जीवन को उजला भी करें।

### अहिंसक आरम्भ

श्राज सबेरे ही श्रासवार के ऊपर यूनान के भगड़े की ख़यर छुपी मिली। बड़ी लड़ाई की बात तो सब जानते हैं। वह मित्रों और शत्र श्रों के बीच ग्राय हुई। लेकिन यूनान के उत्पात में तो मित्रों के श्रापने बीच में से ही शत्रुता फुट निकली दीखती है। उस खबर को पढ़कर मैंने सोचा कि श्रिहिंसा की घर्म मानने वाले श्राप लोगों के साथ मुक्ते श्राज जिस श्रिहिंसा की बात करनी है, वह क्या है? उसका इस विकट युद्ध से, यूनान के महाई से, संस्ंप में इमारी समूची स्थित से कोई सीधा सम्बन्ध है कि नहीं रे या कि वह एक श्रादर्श सिद्धान्त है जो तब लागू होगा जब इम मनुष्य देवता स्वरूप हो जानेंगे।

सम्मुच जो काम की नहीं है, विचार की ही है, ऐसी वस्तु पर समय वह लगावे, जिसे काम न हो, फुर्सत हो । पुर्सत यहाँ किस समभदार को रक्खी है । हर पल कीमती है । स्थित का दबाव इतना है कि जो रुका, वह गया । हर घड़ी चांकस श्रीर चौकन्ने रहने की जरूरत है । इस तरह ब्रहिंसा यदि ऐसी चोज़ नहीं है जो हमारी श्रीर श्रापकी हर रोज की जिन्दगी को मदद दे श्रीर श्रागे बढ़ाये तो समभदार होकर हम उस पर चर्चा करने में समय नहीं खोगेंगे ।

लेकिन मैं श्रिहिंसा को बात की नहीं, काम की चीज़ मानता हूँ। जो बात की ही है वह ब्राहिंसा हिंसा है। यानी विवाद और चर्चा से ब्राहिंसा का सम्बन्ध नहीं है। ब्राहिंसा परम धर्म है, जिसका मैं यही ब्रामि- प्राय लेता हूँ कि जीवन की हर स्थित में श्रिहेंसा लागू है। देश श्रीर कल के भेद से उसकी सत्यता में श्रन्तर नहीं श्राता। श्रिहेंसा माणा-निर्भर नहीं है, वह भाव में है। वह हुदय की चीज़ है। सच पूछिये ते। श्रिहंसा की भाषा मीन है श्रीर उसकी श्रिभियिक शब्द से श्रिष्ठिक कर्म में है। श्रिहंसा की चिरतार्थता के लिये किसी को विद्वान होने की श्रावश्यकता नहीं है। सेवा-भावी श्रीर उत्सर्ग-शील विद्वत्ता के विना भी हुश्रा जा सकता है, श्रीर श्रिहंसा का सार यह सेवामय उत्सर्ग है।

वैयां तक धर्म के रूप में ही ऋहिंमा को विचारने श्रौर पालने से उस सम्बन्ध में कुछ भ्रम होता देखा जाता है। ऐसी श्रहिंसा वर्तमानता को पुष्ट करती, किन्तु उसे मविष्य की दिशा में गति नहीं देती है। श्रभीष्ट कान्ति के मार्ग में इस तरह वह श्रवरोध वन जाती है। उसमें श्रसामाजिकता का तत्व श्राजाता है। वह स्वार्थ पोपक बनी हुई देखी जाती है।

वेशक श्रहिंसा की एकांगी मान्यता में से यह दुष्पता फिलत देखने में श्राता है। श्रध्यात्म-धर्म श्रादि संज्ञाओं के साथ भी ऐसा मनमाना व्यव-हार हुत्र्या है। पर यह तो मानव प्राणी का दोप है जो हर शब्द को श्रपने प्रयोजन की नीचाई तक खींच लाता है।

पर कीन अपनी इकाई के रूप में पूर्ण है १ कोई निज में स्वयं ही होकर नहीं जनमता। जगत में अवतीर्ण होने के साथ ही नाना सम्बन्धों से वह यहां के अनेक लोगों के साथ युक्त हो जाता है। व्यक्ति समाज का अंग है अगरे अविमाज्य है। यहाँ तक कि मृत्यु के बाद भी स्मृति के रूप में वह शोप ही रहता है। महावीर, बुद्ध, और दूसरे महापुरूप हम में होकर आज भी क्या जीवित नहीं हैं। श्रीर श्राने वाली पीढ़ियों में भी क्या उनका प्रभाव लुप्त होने वाला है। इस तरह व्यक्ति का गुग्य-दोप-मय व्यक्तित्व उसकी निज की चिंता का विषय ही नहीं, वह सामाजिक श्रीर सावंजनिक चिंता का विषय भी होता है। निजता की सीमा कहीं है ही नहीं। हलकी सी , करी से पड़ी लहर का दृत्त फैलते-फैलते जैसे जल-

तल की इयत्ता तक व्याप्त हो जाता है, उमी तरह व्यक्ति से आरम्भ हुई भावना भी उत्तरोत्तर व्याप्त होती जाती है। अनेक के बीच वह एक है सही, पर उसकी निजता अपने में उतनी ही सफल और सिद्ध होगी जितनों कि वह उन अन्य अनेक के साथ ऐक्य की अनुभृति पा सकेगा।

जाने अनजाने जीवन के समस्त व्यापार हमें उसी दिशा में बढ़ा रहे हैं। व्यापक से बृहत्तर व्यापकता की ओर हमारी गति है। यह गति दुर्नि-वार्य है। इसी को आत्मा की ऊर्व्व गति कहिये। नाना वन्धन आत्मा को सुक्ति से ऑर व्यक्ति को ब्याप्ति से नहीं रोक सकते। व्यष्टि को समष्टि बने बिना चैन कहाँ ?

प्रश्न होगा कि निरन्तर विकास की ग्रोर चेतना की गति यदि ग्रीन-वार्य ही है, तो हिंसा अथवा अहिंसा का प्रश्न उठने के लिये अवकाश ही नहीं होना चा हये। वेशक मूल प्रागा, ग्रार्थात प्रकृति, की ग्रोर से देखें तो यह प्रश्न नहीं है। यह रामस्या तो बुद्धि-शील मानव की है। मनुष्य से बाहर उस प्रश्न की स्थिति नहीं है । पशुत्रों के लिये यह सवाल नहीं है, क्योंकि उनमें तत्तम्बन्धी विवेक का उदय नहीं है। न उन देवतान्त्रीं के लिये होगा जिनमें द्विधा का सर्वथा अभाव होगा । लेकिन अपने जन्म-काल में जब मनुष्य ने बुद्धि पाई, तभी कर्ता व्य-श्रकर्ताव्य का प्रश्न भी सामने पाया। श्रीर कमशः माल्म होता गया कि जिनको उसने 'पर' समभा है उन्हीं में उसे निजता की भावना का प्रसार करना पड़ रहा है, श्रान्यथा जीवन चल नहीं पाता है। उसे श्रपनेपन का दायरा यदाते ही जाना पड़ा है। उसने परिवार बनाया, यूथ बनाया, माम श्रीर जन-पद बनाये, जाति व राज्य स्त्रीर राष्ट्र बनाये, यहाँ तक कि महाराज्य स्थापित किये । हर काल में उसकी अपनेपन की परिधि के बाहर जो रहा जसके प्रति उसने परायेपन का भाव खला श्रौर उस 'पर' ( पर कुटुम्ब, पर जाति, पर राज्य, पर राष्ट्र ब्रादि ) के साथ सदा ही युद्ध ठानता रहा । लेकिन उन युद्धों के वावजूद भी, प्रत्युत उनके द्वारा ही, वह पहचानता चला गया कि खपने और पराये के

बीच की रेखा उमकी श्रानी ही खींची हुई है, सत्य में वह कहीं भी नहीं है। श्राज जिसको दुश्मन समभा है उससे किसी प्रकार समभोता, यहां तक कि मेल, हुये विना स्वयं को ही चैन नहीं मिलने वाला है। युद्धों की यातना में मेल की श्रावश्यकता प्रकट होती गई है श्रीर श्रापसी भगड़ों के बीच में से मानव-जाति श्राधिक-से-श्राधिक सम्मिलित होती चली श्राई है।

श्राज यह बुद्धि से जानने की नहीं प्रत्यन्त आंखों से दिखने वाली बात है कि किसी की अपनी अलग स्वतन्त्रता जैसी कोई चीज नहीं है। कोई देश अपने में एकांत स्वतन्त्र हो, इसका कोई अर्थ ही नहीं है। कोई अपने की घेर कर श्रीर उसमें बन्द होकर नहीं रह सकता। शेप के साथ लेन-देन, मिलने-जुलने, श्राने-जाने का सम्यन्घ उसके लिये अपनिवार्य ही है। हमारे पुराने आत्म-निर्मरता आरे स्वयं-पूर्णता के आदर्श अब विलीन हुए जा रहे श्रीर इस प्रत्यन्त सत्य से बचने का कोई उपाय नहीं रह रहा है कि सारी मनुष्य-जाति संयुक्त है और एक का भाग्य दूसरे के साथ जुड़ा हुआ है।

विकास के ठीक इस मुहाने पर हम आज हैं। हिन्दुस्तान के वर्मा मांचें पर लड़ाई इस वक्त नहीं है, श्रीर जहाँ है वह जगह हम से कई समन्दर पार है। लेकिन क्या अपने किसी काम या किसी भाव में हम उसके असर से बचे हुए हैं ? हमारे चारों श्रीर मंहगाई है, चोर वाजार है, नफा-खोरी श्रीर चूसखोरी है। नई दिल्ली में शाम के समय हिन्दुस्तानी से ज्यादा इंग्लिस्तानी रीनक मालूम होती है। इंग्लिस्तानी भी क्यों, वह बाज़ार तो दुनिया के ही चौराहे जैसा मालूम होता है; कारण अमरीकन श्रीर दूसरे लोग भी वहाँ कम नहीं दिखते हैं।

मैं कहना चाहता हूँ कि यह विषम समय है जब कि हिंसा-ग्रहिंसा का प्रश्न दर्शन का, विचार का, अथवा नीतिवाद का ही नहीं रह गया है, बिल्क वह हमारे साँस लेने जितना आयश्यक, तात्कालिक और व्यवहारिक वन गया है। वह एक ही साथ अथ्यात्मिक और मौतिक है। वह समूचे जीवन से सम्यन्ध रम्वता है। कल पर उसे टालना न हो पायगा। चाहे तो इसी च्चण उससे छुट्टी पालें ( यद्यपि छुट्टी सम्भव है नहीं ), या फिर उसपर श्रमल करने लगने का ही निर्णय करलें।

इतिहास में अनेक वर्ग और वाद हो गये हैं। वे भी जिन्होंने ईश्वर को केन्द्र मान कर आदमी को सदाचार सिखाया है, और वे भी जिन्होंने नागरिकता के विकास के लिये नास्तिकता का प्रचार किया है। सामाजिक आचार के नियमन के लिये जिसने जो भी मान स्वीकार कया हो—चाहे वह आध्यात्मिक का ईश्वर हो कि जिसके पुत्र होकर सब मनुष्य भाई-भाई हैं, या फिर वह मान लीकिक का लोक-मञ्चल, अधिकतम लोगों का अधिकतम हित, (Greatest good of the greatest number) हो कि जिसके अनुमार व्यक्ति अपने स्वार्थ को परार्थ में मिला दे—जो हो, किन्तु यह तो स्पष्ट ही है कि सब प्रकारान्तर से परस्पर वर्तन के लिये अहिंमा को ही मान्य टहराते हैं।

किन्तु जान पड़ता है कि नीति-शास्त्र में श्राहिंसा की निरपवाद उपयो-गिता को स्वीकार करके भी चलन में उसकी संगति विठाना श्रासान नहीं है। उस पर बल देने से श्रादमी इतना पारलोकिक हा जाता हुश्रा देखा जाता है कि संसार के काम का नहीं रहता, वृसरी श्रोर संसार में सार्थक होने के लिये मानों श्रहिंसा को निगाह से श्रोमल रखना जरूरी करार दे लिया जाता है।

इस विरोध को तर्कवाद से नहीं भरा जा सकता, इस खाई को तो समन्वय-शील साधना से ही भरना होगा। श्राज क्या हम कहने चलें कि इंगलैंड को हथियार डाल देने चाहियें, तभी उसकी जीत होगी र गांधीजी ने यह जरूर कहा। उनकी साधना अगम है और श्रिधकार श्रमित हैं। पर इंगलैंड के वस का यह कब हो सका कि वह उनकी सीख सुन ले र कारण, इंगलैंड अपने सिदयों के संस्कारों से च्या में छुट्टी चाहकर भी छुट्टी पा कैसे सकता है र उस देश का लोक-मानस, उसकी समाज, उसकी सरकार अपने संचित कर्म-दोप से मानों आग्मिविश्व वर्त्तन करने को लाचार है। क्या सचमुच उस देश के अनेक मनीधी विद्वान, जिन्हों भविष्य का संकेत प्राप्त है और जो मून से जिंडत नहीं हैं, येसी ही सलाह नहीं देते १ पर बीज बदले बिना फल की बदलना कब सभव हुआ है १

श्रर्थात् व्यापक राजनीति में श्राहिंसा के प्रयोग का प्रश्न हम जैसी के लिये फल का ही है, यानी श्रानागत श्रीर श्राप्रख्त है, कि जिन्होंने अपने जीवन के मूल में उस श्राहिंसा को नहीं साधा है। लेकिन भी पूछिये तो राजनीति की स्वतंत्र सत्ता ही कव है ! क्या राजनीति हमारे श्रापके सम्मिलित जीवन-व्यापार से ही स्वरूप नहीं पाती ! राजनीति हमको लेकर ही बनती है। उसका श्राधिष्टान जनता है, कि जिसके हम सब श्रंग हैं। इस से राजनीति का सार नागरिक-नीति (Civics) में है। श्रीर राजनीति शास्त्र मानव सम्बन्धों के नियमन का ही शास्त्र है।

इस पद्धति से श्राप देग्वेंगे कि श्राहंसा के दिचार का प्रत्यह्य सम्बन्ध श्रात्मा, परमात्मा, देश श्रथवा राष्ट्र से उतना नहीं है जितना कि इस बात से है कि इम श्रीर श्राप श्रपने पड़ौरी से, श्रथवा कि इतर जनों से, किस प्रकार व्यवहार करते हैं। श्रीर इस दिशा में श्राप ध्यान देंगे तो तत्काल जीविका के, श्रर्थात् धनोपार्जन की विधि के, प्रश्न से श्रापका बिचार जा खुएगा। श्रीर तब श्रपना वही पुराना स्त्र हमें सच जान पड़ेगा कि ''जैसा खावे श्रन वैसा होवे मन"। श्राप देखेंगे कि श्रापका जीवित रहने के लिये मोजन की, वस्त्र की, श्रीर दूसरी जो श्रावश्यकतायें हैं, वे सहज पूरी नहीं होतीं। उनके लिये कुछ, 'करना' होता है। इसी को जीवकोपार्जन कहते हैं। यदि हमें श्राहिसा को व्यापक चेत्र में घटित करना हो तो सबसं पूर्व इस जीविकोपार्जन की विधि में उस श्राहिसा को चिरतार्थ करने से श्रारंभ करना होगा। मैं श्रपने लिये जिस दंग से श्रन्न जुटाता हूँ उसमें श्रगर श्राहिसा नहीं है, तो श्रागे फिर मेरे उपलच्च से श्राहंसा की सफलता किस प्रकार हो सकती है!

श्रहिंसा की साधना को इस विन्दु से हम श्रारंभ करें तभी श्रहिंसा की श्रीर हमारी सच्ची परीला है। उसमें स्पष्ट है कि हमको प्रचलित श्रर्थ-शास्त्र श्रीर समाज-शास्त्र से प्रकाश प्राप्त नहीं होगा। बना-बनाया कोई दर्शन या विज्ञान हमारा हाथ नहीं थामेगा। उनकी बुनियाद ही दूसरी उहरी न। इससे हमको श्रपनी श्रद्धा श्रीर श्रम से एक नये ही श्रर्थ-शास्त्र की नींव डालने श्रीर नई श्रहिंसक रामाज रचना के लिये तैयार हो जाना होगा।

श्रीर क्या श्राज के युद्ध ने युद्धोत्तर निर्माण के प्रश्न को श्रत्यन्त चिंतनीय नहीं बना दिया है ? सचमुच वह प्रश्न जीवन-मरण का है ! विशाल योजनायें गर्म में हैं, श्रार उनके जन्म के लिये वर्का यकी तैयारियां की जा रही हैं। ऐसे समय सभी को सचेत रहना होगा श्रोर श्रापने भीतर टटोल कर तै कर लेना होगा कि हम क्या चाहते हैं।

मेरी धारणा है कि इस युद्ध के निमित्त से मानव-जाति ने काफी प्रायश्चित किया है। भगवान करे कि ऐसा न हो कि अपले युद्ध के बीज अभी वो दिये जायें। अपने बाये का फल हमें ही काटना होगा। लेकिन इस युद्ध में हमने चख देखा है कि द्वेप अपेर दमन के बीज की फसल कैसी कहुवी होती है।

हम में से प्रत्येक अपनी-अपनी जगह स्वाधीन है। यह अपनी निज की अर्थासिक में आसपास शोपण के बीज वो सकता है, अथवा कि सेवा-कर्म द्वारा अहिंसा की जड़ों में अपने जीवन को सींच सकता है। हर हालत में कर्म की गति अटल है। कल फल उससे मिन्न नहीं मिलने वाला है जो आज हम बोते हैं। इसमें बाहर से समाज-विधान या राज्य-तंत्र के बदलने की प्रतीक्षा में रहना जरूरी नहीं है। मीतर से जीवन उगता हुआ आयेगा तो जीगा बन गये हुये विधान और तंत्र तो उसके अभिनन्दन में आप ही गिर रहेंगे। लोक-जीवन के जायत चैतन्य के आगे तंत्र-व्यवस्था की रूढ़ि आप ही नत-मस्तक हो रहेगी।

# ः ४ : सं<del>स</del>्कृति

#### संस्कृति की बात

संस्कृति पर श्रापसे कुछ बातें करने के लिए मैं श्रा तो गया हूँ, पर समभ में नहीं श्राता कि शुरू कैसे करूं। शब्द वह कुछ बारीक है श्रीर उस पर पूरी पकड़ नहीं बैठती है। यों भी काम-काज से वह बाहर का मालूम होता है। जैसे निद्धानों का वह शब्द हो श्रीर लिखने-पढ़ने के प्रयोग में ही श्राता हो। श्राये दिन की जिन्दगी से जैसे उसका वास्ता न हो श्रीर जो सवाल हम श्रीर श्रापको मामूली तौर पर घेरे रहते हैं, संस्कृति उनसे कुछ दूर की चीज हो।

ऐसा मालूम होना श्रकारण भी नहीं है। संस्कृति शब्द सीध-साधे रूप में कम ही बोलने में श्राता है, श्रधिकतर किसी न किसी विशेषण के साथ जुड़ा रहता है। कभी किसी देश के नाम के साथ, युग के साथ, जाति विशेष के या श्रमुक मतवाद के साथ। ऐसे श्रमेक संस्कृतियाँ बन श्राती हैं श्रोर हर एक पर विद्वान लोग महनत करते हैं, उनका स्वरूप तय करते हैं, लक्षण विठाते हैं श्रीर उनके बारे में तरह-तरह की शोध में लगे रहते हैं। इस तरह प्रत्येक संस्कृति दूरारे से विशिष्ट बनती हैं श्रीर लोग उसकी विशिष्ठता के प्रेमी श्रीर प्रचारक हो जाया करते हैं। वे उसकी ख़ासियत को सबसे बढ़ा-चढ़ा बताते हैं श्रीर उस पर जूकने के लिए तैयार हो जाते हैं। ऐसी संस्कृतियां श्रापस की बदाबदी में विश्रह पर उतार दी जाती हैं श्रीर कलह-कोलाहल उपजाने के काम श्राती हैं।

कलह को हम संस्कृति तो नहीं कह सकते। कलह संस्कृति हो तो विकृति किसे कहेंगे? फिर भी देखने में श्राता है कि संस्कृतियों को लेकर विकृति का, यानी विश्रह का, पोपण हो रहा है श्रीर श्रादमी श्रमुक संस्कृति के नाम पर श्राधम श्राचरण कर उठा है।

संस्कृति यों तो अवंड है श्रीर हममें से कोई उसके श्रधिकार से बच नहीं सकता। क्या यह सच नहीं है कि हम इन्सान हैं श्रीर जानवर नहीं हैं ? तब, जो हमें नीचे पशुता में गिरने से रोकती है श्रीर मानवता में ऊपर उठाती है, वहीं मानव-संस्कृति होनी चाहिए। उससे श्रन्यथा जो हो, उसे विकार मान लेना चाहिए।

श्रय इस घरती पर मुट्ठी भर लोग तो नहीं बसे हैं। वे करोड़-पर-करोड़ हैं श्रीर दर-दूर देशों में फैले हुए हैं। उनमें कई भाषाएँ हैं श्रीर रहन-सहन के ढंग भी अलग हैं। पर उन सभी के लिए जरूरी रहा है कि वे एक दूसरे के सहयोग में श्रायं, हिल-मिल कर पनपें, श्रीर इस हेल-मेल श्रीर सहयोग-सहान्भित का विस्तार करते जायँ। भाषा श्रीर रीति-नीति की मिन्नता इस विकास में यों बाधक जान पड़ती है। पर सच्चा संकल्प उसे भी साधक बना लेता है। कारण, भेद में वह अभेद देख पाता है और इस तरह भेद के प्रति भी आदर ओर प्रीति रखता है । वह तोइता नहीं, समन्वय श्रीर सामंजस्य साधता है । भिन्नता को देखते हम कह सकते हैं कि अमुक मानव-समुदाय की यह विशिष्ट संस्कृति है। पर स्पष्ट है कि श्रमुक संस्कृति की यह विशिष्टता रूप ग्रीर बनाव ग्रीर परिस्थित के तल तक ही है। श्रांदरसे सबकी सार्थकता एक ही है.यानी श्रापसी सहयोग को उत्तरोत्तर व्यापक श्रीर धनिष्ट बनाते जाना । पहरावन का भेट स्वस्थ मन में भेद नहीं डाल सकता। लेकिन वैसा भेद पड़ता हो तो यही कहना होगा कि उसमें मन का ऋस्वास्थ्य कारण है, श्रीर मानव-प्रकृति वर किसी विकृति का आरोप और प्रकोप हो गया है। तब स्वास्थ्य-लाभ के लिए उस रोग का निवारण जरूरी हो खाता है।

सहयोग की अनिवा ता लेकर हम आदमी पदा हाने हैं। एकाकी कोई रह नहीं सकता। इकले होकर मरा ही जाता है। जीना तो संग-साथ ही हो सकता है। पर जब यह अनिवायंता हमारे अंदर है, तब उसको रोकने और अठकाने वाले तत्व भी हमारे अंदर हैं। इस तरह जीवन सरल नहीं, काफी उलभा हुआ तत्त्व है, और संस्कृति का विकास अनिवायं होकर भी सहज साध्य नहीं, अत्यन्त प्रयत्न साध्य ही होता है। हम मनुजों में पशुता के तत्त्व भी हैं और वे नीचे खीचते हैं। वे हमें एक दूसरे की एवर्डा और ईप्यों में लाते हैं। उनके वशा होकर हम बैर-विरोध ठानते हैं। उन्हीं के ताबे दूसरे को हीन रख कर अपने को उन्नत, उसको अपमानित कर अपने को सम्मानिन और उसको नए कर अपने को पृष्ठ करने की चेष्ठा दीख पड़ती है।

समाज बेशक इन दोनों प्रकार की वृत्तियों के ताने-बाने से मिल-जुलकर बनता है। श्रहंकार के श्रीर तरह-तरह की लिप्सा-आकां ज्ञांशें के वश होकर जो हम नाना व्यापार करते हैं वे तो काले, श्रीर स्नेह सहानुभूति श्रीर विवेक की चेतना से जो सेवा साधते हैं वे धीले तार कहे जा सकते हैं। इन्हीं तागों से उजला-मैला समाज का पट बुनता है। धागे जितने धीले होंगे, समाज उतना स्वच्छ श्रीर श्रव्छा होगा। उनमें जितनी कालिमा मिल जायगी, समाज उतना ही मैला श्रीर कड़वा बनेगा।

स्पष्ट है कि समाज की बनावट में व्यक्ति निमित्त है। पर श्रपनी निजता में नहीं, श्रपने पारस्परिक संबंधों के द्वारा वह निमित्त बनता है। श्रमल में वह समाज-पट में ताने श्रोर बाने के जोड़ से बन गया हुश्रा केवल वह बिंदु है जहाँ होकर पारस्परिकता के तार श्रापस में छूते, छिलते-मिलते श्रोर पार बढ़ जाते हैं। श्रब ये तार वहाँ उलभ भी सकते हैं। इसिलए प्रश्न उतना व्यक्ति का नहीं है, श्र्यक्ति पर बंद या समाप्त नहीं है। वह तो व्यक्ति श्रोर व्यक्ति के बीच का, उस बीच के सम्बन्ध

का है। उस संबंध के ग्राभाव में व्यक्ति के ग्रास्तित्व की कल्पना ही समाप्त हो जाती है। उन सम्बन्धों की सुलाभन से व्यक्ति सुलाभा हुग्रा बनता है। उन सम्बन्धों की घनता ग्रीर पुष्टता व्यक्तित्व को सम्पन्न ग्रीर सबल बनाती है। वहां उलभाव हो, या त्रास हो, तो व्यक्ति भी हीन, दुग्पी ग्रीर दुवंल होता है।

इस तरह समाज श्रीर व्यक्ति का श्रलग से विचार होना ही संभव नहीं है। समाज श्रव्यक्त है, व्यक्त व्यक्ति है। इसलिए उस श्रव्यक्त को खूने या समभने के लिए व्यक्त व्यक्ति है। इसलिए उस श्रव्यक्त को खूने या समभने के लिए व्यक्त व्यक्ति ही काम देता है। समाज व्यक्ति के बिना एक मंत्रा भर रह जाता है। व्यक्ति को वाद देकर चलने से समाज के साथ किसी प्रकार का सजीव सम्बन्ध स्थापित नहीं किया जा सकता है। ऐसी चेष्टा पिर भी होती हैं, यानी, व्यक्ति को बिना ध्यान में लियं समाज को मुधार डालने के प्रयत्न टान लिये जाते हैं। स्पष्ट ही यह जरूरी है कि ऐसे प्रयत्न निष्फल जाएँ। इस तरह चलने से श्रांदोलन श्रंत में प्रतिक्रिया उत्यन्न करते हैं, श्रोर सुधार की कोशिशीं उलटे विगाइ उपजा पड़ती हैं।

व्यक्ति स्रोर समाज, हमने देखा, दो नहीं है। फिर भी दें। शंब्द ती हैं, श्रीर इसिलए उनके द्वेत को एकाएक हवा में नहीं उड़ाया जा सकता। तो कहिए कि एक ही वास्तविकता का यह तर व्यक्ति हैं, तो उसी का पार का किनारा समाज है। श्रव होता यह है कि उस जीवन की वास्तविकता के इस किनारे संत, महात्मा, कवि श्रीर श्रादर्शवादी श्रपने तीर्थ डालकर साधना साधतें हैं, तो उस पार पर कामकाजी लंगा, लांकिक श्रीर राजनीतिक, श्रपने-श्रपने पक्के गढ़ वाँचकर वस जाते हैं। इधर वे जो व्यक्ति की भाषा में पूर्णता के स्त्रादर्श को देखते हैं श्रीर ईश्वर को मजते हैं, उधर वे जो दल वाँचकर समप्रता को, यानी स्टेट को, सामने रखकर सप्रयोजन संघर्ष करते हुए सामर्थ्य संपादन करना चाहते हैं। इस तरह एक तरफ श्राध्यात्मिकता है, जिसमें श्रादमी कपड़ा

तक छोड़ बैठता है; दूसरी च्रोर पदार्थवादिता है, जहां सव बटोरकर भी तृष्णा समाप्त नहीं होती।

श्रय संस्कृति की बात करते समय न श्राध्यात्मिक शास्त्रों की, न सामाजिक विज्ञानों की पहताल जरूरी है। इधर या उधर खूंटें गाइ-कर श्रीर कुछ जी सके, संस्कृति इस तरह नहीं जी सकती। दोनों किनारों के बीच, उन दोनों को छूती हुई, दोनों को सममती हुई, उन दोनों तक श्रपना चैतन्य श्रीर परस्पर का चेम पहुँचाती हुई, संस्कृति देसे बहती है कि प्रयोजनवादी का प्रयोजन भी नष्ट न हो, श्रीर श्रात्म का श्रानंद भी सर्वत्र वर्तमान रहे।

साफ है कि इन दो किनारों पर बसने वा जों का निषट दें त, उनके बीच का दुर्भाव और विग्रह, सबके लिए त्रास का कारण बनता आया है। उससे अनंत बुद्धि-भेद उपजा है। उससे सुख-चैन उजड़ा है, और बेचैनी फैलती गर्या है। जरूरी है कि वह प्रवाह सूखने न पाय, न चीण् होने पाये, जो दोनों तटों को हरियाली दे सकता है।

श्रव कई-कई वाद हैं। कुछ उनमें धार्मिक हैं, कुछ लोकिक हैं। धार्मिक मतवाद जैसे—इस्लाम, ईसाइयत, बौद्ध, जैन, हिन्तू। लोकिक—जैसे समाजवाद, साम्यवाद, लोकोपकारवाद, वहुमतवाद आदि। 'वाद' को हिंदी में कहें बात। लेकिन सवाल वात का नहीं है, काम का है। बात का मज़ा तो बात तक ही है। ऐसे अपने आप में कोई 'वाद' शालत या सही भी नहीं है। बात की परस्त काम में है। जो सच्चा रहता और सच्चा वरतता है, उसी की बात सच्ची मानी जाती है। आदमी खुद सच्चा और सही होकर अपनी बात को भी सच्ची और सही बनाता है। यही नियम व्यक्ति से आगे सामृहिक वादों पर लागू मानना चाहिए। बाद और वाद सभी ठीक हैं। उस बारे में मज़ाइने का सवाल संस्कृति के, या संस्कारी आदमी के, लिए उठता ही नहीं है। मुसलमान को इस्लाम मुबारक और सनातनी को सनातन-धर्म। इसी तरह समाजवादी के लिए

ऋपने वाद श्रीर गांधीवादी श्रीर साम्यवादी के लिए श्रपने-श्रपने वादों की जय चाहने श्रीर उन्हें धन्य मानने की स्वतंत्रता है। पर संस्कृति की मांग से किसी को छुटी नहीं हो सकती। सबको श्रपने होने श्रीर जीने के दावे को संस्कृति की कसीटो पर कस दिखाना होगा। कारण, हममें हर कोई इंसान है, श्रीर हर एक नागरिक भी है। हमारी जमातें भी श्राखिर हमारी, यानी इंसानों की है, श्रीर समूची मानव-जाति का श्रंग हैं। एक मतबाद को लेकर, या किसी भी दूसरे बहाने को लेकर, क्या व्यक्ति या दल को छुटी हो सकती है कि वह आदमियत से हाथ धो बैठे १ नहीं, कभी नहीं हो सकती। संस्कृति का यही श्रर्थ है। उसका यह तकाज़ा और श्रिधकार है कि वह मनुष्य में से मनुष्यता ही प्राप्त होने दे श्रीर मनुष्य को उस श्रपने स्वधर्म की राह पर बरावर श्रिष्टिंग रखे, गिरने न दे।



### संस्कृति और विकृति

संस्कृति का शब्द बहुत तरफ से उठाया जा रहा है। कुछ लोग उसकी बात मन से भी कहते होंगे; पर अधिक, जान पबता है, मुँह से कहते हैं। मुँह से कहने का मतलब यह नहीं कि किसी तरह का मायाचार करते हैं। मतलब यही कि गहरे में वे मानते हैं कि संस्कृति बाद की बात है, पहली नहीं है; अपरकी चीज़ है, मूल की नहीं है। यह बहुत-कुछ अतिरिक्त बस्तु है, जैसे मूलधन का ब्याज। इसलिए ज़रूरत की नहीं, जितनी शोमा की बस्तु है। विलास को बुर अर्थ में न लें, तो बह बिलास अधिक है, आवश्यकता कम।

इस मन्तव्य के लोग श्रिधकांश मानव-जातिके जिम्मेदार शासक श्रीर व्यवस्थापक वर्ग के हैं। उनपर दायित्व का बोम है श्रीर वे प्रत्यन्न कर्त्तव्य से हटकर परोन्न कल्पना में भटक नहीं सकते हैं। वे प्रकट देखते हैं कि पहली श्रावश्यकता रहने-खाने-पहनने की है। उसके बाद श्रावश्यकता श्रच्छे खाने, श्रच्छे रहने श्रीर श्रच्छा पहनने की है। बात सिर्फ रहने से श्राग बदकर बिह्या रहने की हो जाती है, तभी वह संस्कृति कहलाती है। इस लिए संस्कृति का मान है: 'जीवन-स्तर'। एक सौ क्यया मासिक खर्च में रहता है, दूसरे को पाँच सौ लगते हैं, तीसरे को हज़ार श्रपयांप्त होते हैं। तो हन तीनोंमें संस्कृतिताकी कमशः उत्तरोत्तर तरतमता देखी जा सकती है। इस तरह संस्कृति के प्रश्नका निदान है: चढ़ा-बढ़ा उत्पादन श्रीर बड़ा-चढ़ा उपार्जन। श्रीधक स्रविधा, श्राधिक साधिक स्रविधा, श्राधिक सम्यता।

ये दायित्वशील जन, जो सुविधा में रहते इससे सुविधा उपजाने में भी रहते हैं, मानते हैं कि समस्या का रूप सांस्कृतिक से पहले मौतिक है। लागों को ग्रावश्यक पदार्थ चाहिएँ, इसिलए उसका पर्याप्त उत्पादन ग्रांर समीची वितरण चाहिए। उसके लिए फिर उचित व्यवस्था ग्रीर पका तन्त्र चाहिए। इस सबके लिए यत्न, ग्रार्थात् संघर्प, करना होता है। जीविका सहज नहीं है, प्रकृति के ग्रीर परिस्थित के साथ वह एक युद्ध है। जीविका के लिए जूस्तना पड़ता है। इसिलए प्रश्न मूलतः ग्रार्थिक है, यानी जीवन-मान ग्रार्थिक हैं ग्रोर मनुष्य ग्रार्थिक प्राची है।

ये लोग 'स्कृति के निस्तंशय संरत्तक, समर्थक श्रीर श्राममानी हैं। जानते हैं कि श्रार्थिक रचना में से ही संस्कृति का उद्गम हो सकता है, इसिलए बात चाहे संस्कृति की करें, काम श्रयं का करते हैं। मेरा मानना है कि वे भूलते हैं। समस्या रहने-खाने-पहनने की नहीं है, इन्सान के लिए वह इन्सान होने की है। जानवर रहता श्रीर खाता है। जंगली.भी कुछ-न-कुछ पहनता है। जो वस्त्र नहीं जानते, उन्हें प्रकृति छाल-खाल-याल पहनाती है। रहना-खाना हमारे होनेकी शर्त्त है। समस्या वह न थी, न होनो चाहिए। श्रयल में समस्या का वह रूप फर्ज़ी है, बनावटी है। सिर्फ होने में ही गर्भित है कि रहने को रहा जाता है श्रीर खाने को खाया जाता है। समस्या का श्रारम्म होता है हमारे इन्सान होने से श्रीर हमारे उत्तरोत्तर सही श्रीर सच्चे इन्सान बनने की श्रोर उस समस्या को उठते जाना है।

भूख का समधान है खा लेना। भूख लगी, शेर निकला, शिकार मारा ग्रीर खाकर श्राराम से से गया। भूख श्रादमी की समस्या नहीं हो सकती, क्योंकि भूख का सीधा सम्बन्ध खाने से है। वह सम्बन्ध मनुष्य के लिए उतना सीधा नहीं रह जाता, इसमें कारण उसकी मनुष्यता ही है। बीच में से मनुष्यता को हटाकर समस्या की एकदम समान्ति हम पा जाते हैं। पर वैसा नहीं हो सकता। इन्सान चाहकर भी इन्सानियत खों नहीं सकता। इसलिए प्रश्न भूख नहीं, इन्सानियत है।

जो मूल प्रश्न को शरीर की सीधी श्रावश्यकता की माधा में देखते हैं, वे प्रश्न को किसी तरह मी सुलक्षा नहीं सकते। कारण, वे उल्टे चलते हैं। जिसने श्रपनी मनुष्यता के ऊपर भूख को रख लिया, उसने श्रपनी भूख को तो मिटाया; किन्तु श्रपनी श्रानिवा है स्यानी है सियत के लिए उसने बड़ी श्राफत मोल ले ली। चोरी, ठगी, डकैती, धोखा-देही करके भूख को सीधा मेटा जा सकता है, लेकिन समस्या उससे मिटती नहीं श्रीर बनती है।

यह मत कि श्रादमी पहले शरीर है, भूठ है। श्रव तक कोई श्रादमी
मैंने नहीं देखा, जो शरीर पर समाप्त हो। जवन्य से जवन्य श्रपराधी
भावना से मुक्त नहीं होता। भावना, यानी मनकी भूख। तन की भूख तो
भी घाम से श्रादमी शान्त कर लेगा, लेकिन मन से श्रपमान उससे नहीं
सहा जायगा। कहाँ ऐसे उदाहरण नहीं हैं, जहाँ खुशी से लोगों ने
भूख सही है, श्रपमान नहीं सहे हैं। भूख यह गहरी है, यह श्रमली हैं।
श्रीर समस्या यहां है।

इन्सान को शारीर की भाषा पर उतार कर उसकी समस्याश्चों का निष्ठारा टटालना बेकार है। इन्सान को न समभ्रते से ऐसी कोशिश का श्चारभ्भ होता है। सहानुभूति का उसमें श्चमाब होता है। इससे जितनी ही यह चंद्या नेशानिक होती है, उतनी ही व्यर्थ होती है।

श्राशय कि मैं उनसे सहमत नहीं हो पाता हूँ, जो संस्कृति को दूर की, ऊपर की, कोई मन्य वस्तु मानकर सन्तोप मानते हैं श्रीर बुनियाद में ही उसे नहीं लेना चाहते।

. संस्कृति जो नींव नहीं है, सिर्फ शिखर है, एक ब्राडम्बर है। राजनीति जो संस्कृति को साध्य के रूप में ब्रागे रखकर साधन के रूप में साथ नहीं रखती है, अम ब्रीर प्रपन्न ही उत्पन्न कर सकती है।

संस्कृति एक रुमान है, एक वृत्ति, जिसको श्रंगीकार हम नहीं करते तो श्रावश्यक श्रर्थ होता है कि विकृति को हम स्वीकार करते हैं। या तो विवेक पूर्वक संस्कार का श्रार हम बढ़ते हैं, नहीं तो रागपूर्वक विकार की श्रोर हटते हैं। केवल स्थित इस जगतमें नहीं है। चढ़ेंगे नहीं, तो गिरना हमारे लिए लाज़मी है। उन्नित का श्रामाव श्रवनित है। जीवन सतत गतिशीलता है। संस्कृति की श्रोर है, वह प्रगति; श्रान्यथा श्रवगित है, जो विकार में से श्राती श्रोर विकृति में पहुँचाती है।

संस्कृति, जो विद्वानों श्रीर विज्ञानों की वस्तु है, श्रानन्त शाखा-रूप है। वहाँ मूलाधिष्ठान पाना कठिन होता है। चुनांचे ऐसी विविध संस्कृतियाँ श्रापस में ले-दे मचाती देखी जाती हैं, वैसे ही जैसे कि श्राँधी में शाखाएं श्रापस में उत्तभ पड़ती हैं। श्रांधी से श्रपने को श्रांभन्न समभ लें, तो शाखाश्रों के लिए यह कठिन नहीं है कि श्रपनी बदाबदी में दृच्च के मेस्दरह से श्रपने सबके सम्बन्ध को वे भूल जायँ, भूल चाहे जायँ, पर उनकी स्थित का श्राधार वही है। उस श्राधार से ही कहीं वे दूर्टी, तो तत्त्व्याधूल पर उन्हें श्रा पड़ना होगा। फिर हरियाली के वहाँ से उड़ने श्रीर सुख़कर उनके हैं धन बनने में देर न लगेगी।

रांस्कृति श्रीर शेल्री परस्पर विसुख तत्त्व हैं। हाल की-सी बात है कि यहाँ दिन-दहाड़े करल हो रहे थे श्रीर शौर्य मानो उफान खा रहा था। एक श्रीर से 'श्रल्ला-हो-श्रक्तवर' का नारा उठता था, तो दूसरी तरफ से 'हर-हर महादेव' का निनाद। यह पराक्रम पुरुप का पुरुपार्थ न था, उसकी विड-धना था। दोनों तरफ इसमें शेखी थी। 'श्रल्ला-हो-श्रक्तवर' श्रीर 'हर-हर महादेव' पवित्र-से पवित्र उच्चार हैं; लेकिन शेखी पर चढ़कर एक शैतानी तमाशे के सिवा वे कुछ नहीं रह जाते। तब वे इन्सानियत के दिवाले की घोपया हो जाते हैं।

'श्रपनी' संस्कृति का दर्प—यह भाव ही मिथ्या है। इसमें 'पराई' संस्कृति की श्रवज्ञा समाई ही हैं। जहाँ श्रपनी-पराई संज्ञाश्रों के प्रयोग में यह श्रिममान-एवं-श्रपमान का भाव श्रा जाता है, वहाँ स्व-पर की भाषा श्रीर स्व-पर का बोध श्रान्त मानना चाहिए। वह श्रात्म-बोध में साधक नहीं, बाधक होने बाला है। श्राभेद की भूमिपर भेद स्वयं स्वीकरणीय श्रीर श्रादरणीय बनता है। लेकिन भेद जो मूल के अप्रभेद को खाने चले निरी मूर्खता है। इसी से शेख़ी से उपहास्य वस्तु दूसरी नहीं श्रीर पागल वह है, जो श्रापने को सब से अवलमन्द गिनता है। श्रातः संस्कृति का लच्चण है: विनय, मिक।

हम ग्रहन्ता लेकर जीते हैं। जा हमको एक श्रीर इकट्टा रखती है, यह हमारी ब्रहन्ता ही है। किन्तु उस ब्रहन्ता को व्यक्तित्व गिनना भूल होगी। श्रहन्ता यदापि होने की भूमि है, पर वही होने की व्याघि भी है। इसीसे बार-बार होना, जिसे धार्भिक भय-वाधा या आवागमन कहते हैं. कुछ उपादेय नहीं समभा जाता है। मुक्ति इस होने, यानी होते रहने, से मुक्ति है । आवागमन से निकल कर फिर क्या होगा, यह प्रश्न प्रस्तुत नहीं है। सार वस इतने में ही है कि स्वयं होकर होने में सुख नहीं है, पूर्णता नहीं है, प्रत्युत निरन्तर बन्ध का बोध है। अर्थात् ब्रहंभाव द्वारा हम जीते हैं, तो भी उससे श्रधिकाधिक छुटते जाना उत्तरोत्तर सच्चा जीते जाना है। ऋपने को याद रखे रहना सबसे बड़ा दु:ख है, भूल जाना सख। जो जितना ही कम 'ग्रस्मित्व' है, वह उतना ही महान 'ग्रस्तित्व' है। व्यक्तित्व ( या श्रस्तित्व ) सम्पादन के लिए 'श्रस्मित्व' का संग्रह नहीं, उर्त्तग चाहिए। इसी से देखते हैं कि जो आगे यद कर मरता है, वह श्रमर बनता है। यानी जीने की कला, उसकी कुन्नी, मरने की शिचा श्रीर साधना में है। इस बात को समभें तो जैसे संस्कृति का सार मिल जाता है।

हम अपने को जगत का केन्द्र मान कर जीते हैं, यह है विकृति । हम जगत में क्रूप्य भाव से जियें, यह होगी संस्कृति ।

श्रहन्ता से शूत्यता की श्रोर जाना विकार से संस्कार की श्रोर उठना है। अपर की बात को तात्विक से व्यावहारिक बनाकर लिया जाय ! उसे मानव-सम्बन्धों पर घटित कर देखा जाय ! तो जब मेरे लिए सामने का व्यक्ति प्रधान थ्रोर में स्वयं उसकी ग्रयेच्या में गोण बनता हूँ ; यानी उसे ग्रादर देता हूँ , चाहे उधर से ग्रयमान ही पा रहा होऊँ; सौदे में उसका लाभ प्रथम देखता हूँ श्रीर ग्रपने लिए यथावश्यक पर सन्तोप करता हूँ; उसको सुख देकर ग्रपने दुःख को भूल जाता हूँ; संद्ध्य में उसके कल्याण में स्वयं काम ग्राता हूँ—तो यह संस्कृति की दिशा की साधना है । इस तरह की प्रवृत्ति से समस्याश्रों का धरातल उठेगा (क्यों कि समस्या निवटने के लिए नहीं है, केवल उठते जाने के लिए हैं); बन्धन टूटेंगे ग्रीर जो बिप मानव-सम्बन्धों को कुटिल ग्रीर कटिन बनाए रखता है ग्रीर निवटन सत्तर, ईर्ष्या-लालसा ग्रीर है प-दुर्माव पैदा करके बीडिक से मारक-दर्शन ग्रीर वैज्ञानिक से संहारक-श्रस्त्रास्त्र का ग्राविष्कार करवाता है—वह बिप कटेगा । स्नेह की बुएटा उरासे तूर होगी ग्रीर सहानुभूति का प्रकृत प्रभाव खुलेगा ।

दूसरे सिद्धान्त से हम सामने वाले को अगने स्नेह के बजाय स्वार्थ का उपादान बना सकते हैं। तब हम अपने को उसके लिए नहीं, उसे अपने लिए मानेंगे—अर्थात् उससे अपना प्रयोजन साधने का सदा और प्रमुख ध्यान रखेंगे। अपने लाम को इतना देखेंगे कि उसकी ठगने से नहीं कतरायेंगे। स्वयं उसमें से अपना मुख निकाल लेंगे, चाहे फिर उसके भाग में दुःख ही रह जाय। अपने सग्मान की भरपूर चिन्ता रखेंगे, फिर चाहे हमसे कितनों का भी अपमान होता रहे। अपने लिए पद रखेंगे और दूसरे के लिए सिर्फ बोट; दूसरे को आशा देंगे, अपने को प्राप्ति। तो जीवन की यह पद्धति दूसरी दिशा की ओर ले जाती है। में मानता हूँ कि इस दिशा की प्रवृत्ति निश्चत रूप से संकट को और विकट करने वाली है। वह शोषण की है, हिंसा की है। अब दीखने वाले काम-धाम—उपकार, सुधार, व्यापार, शासन, व्यवस्था, समा-

संगठन, समाज-साधना श्रादि सव तरह के सब काम—ऊपर की दोनों वृत्तियों से किए श्रीर चलाए जा सकते हैं। पहली श्रवस्था में ही वे साधक हो सकते हैं, श्रन्थथा वे सब वाधक श्रीर वंधन कारक होने बाले हैं।

संस्कृति का अतः बाह्म कर्म से कोई सम्बन्ध नहीं है। काम की भाषा, या उस प्रकार की आग्रह-श्राकांद्धा, विकार का लद्ध्य मानी जा सकती हैं। कर्म रचनात्मक वह है, जो संस्कृति-निष्टा, यानी आहिंसक प्रेरणा में से आता है। कर्म से संस्कृति या आहिंसा नहीं है, संस्कृति में से कर्म को होना है। अर्थात्, धर्मपूर्वक कर्म।

जहाँ 'मैं' प्रधान हूँ, श्रोर दूसरा मेरे प्रयोजन की श्रापेक्षा में ही है, वहाँ का समस्त कर्म संस्कृति मूलक न होने से व्यर्थ श्रीर श्रानिष्ट कर्म है। मानना होगा कि 'पालिटिन्स', जहाँ उसका रंग मन तक पहुँचा हुश्रा हो, स्पष्ट ही विकृत श्रीर रुग्य कर्म है। वह मानवता की दहका सकता है, दमका नहीं सकता; जला सकता है, उजला नहीं सकता।

निश्चय ही वे मान, वे मूल्य, जिन पर जगत का समग्र कर्म-व्यापार कसा ग्रीर परव्या जायगा, या घटनाश्रों से बनने वाले समूचे इतिहास से जिनका पूर्ति श्रीर सिद्धि माँगी जायगी, वे मृल्य साँस्कृतिक हैं श्रथवा मानवीय हैं।

मूल्य का श्राशय लच्च नहीं, कि जिसको आगे रखना काफी हो। उसका मतलब है वह घड़ी, बह तुला, जिसको हर वक्त साथ रखना ज़रूरी है। उस पर सही उतरे वह तो रखना और बाकी सब-कुछ फेंक देना होगा।

बृहद् कर्म का मोह इसमें श्राक्सर बाधा डालता है। सिर्फ इसिलए. कि डाका बहुत बड़ा है, इस डाकू के प्रशंसक बन सकते हैं। प्रशंसा में डाकू की जगह दूसरा बदिया नाम तक उसे दे सकते हैं। लेकिन यह

केवल मोह की महिमा है स्त्रोर मन को मुलावा है। छोटे व्यक्तिगत सौदै में जो नफ़ाखोरी बुरी दीखती है, बड़े सांस्थानिक या राष्ट्रीय पैमाने पर वही हमें गौरवशाली दीखने लग सकती है। गाय की हत्या पर जगप्ता हो सकती है, पर चमड़े के व्यापार में करोड़ों की कमाई ठीक लग श्राती है। हत्या से जी घबराता है. लेकिन युद्ध वाली हिंसा, या उत्पादन के श्रीर पूंजी के श्रमित केन्द्रीकरण से होने वाली व्यापक श्रीर सूच्म हिंसा, हमको प्रिय लग सकती है। यह सिर्फ 'बृहत्ता' की माया है। स्थूल श्चॉल गुरा तक नहीं पहुँचती. परिमारा पर भटकती है। मशीन इसी से मोहती है श्रोर मनुष्य पर विजय पाती है। इससे वचना जितना कठिन है, उतना ही श्रायश्यक भी है। राजनीतिक नेता उसी मोह को मनमें जगाकर. खुशहाली श्रीर तरक्की के बड़े-बड़े नक्शे देकर. बहमत को साधता श्रीर श्रपना नायकत्व बाँधता है। परिमाण (Quantity) के ज़ीर से श्रन्सर गुण (Quality) की त्रृष्टि देंक जाती है। परिमाण की भाषा इसिलए सांस्कृतिक इष्ट के लिए विल्कल विदेशी है। श्रर्थ-गणित, जो व्यक्ति को श्रंक में श्रॉकता है, श्रन्त में स्वार्थ को प्रतिष्ठा देता है। वह शोपण का श्रस्त बनता है।

श्रार्थिक श्रांकड़े श्राधुनिक शिव्यित के मन पर इस कदर बैठते हैं कि उनके तलकी पारमार्थिक भूमिका के बारे में राावधान होने का श्रवकाश नहीं स्कता। प्लानिंग बड़ा हो, तो छुंटों मोटों की सुख-सुविधा इतनी तुच्छ लगती है कि उसपर श्राटकना मूर्खता प्रतीत हो श्राती है।

इसी से भाव से आधिक प्रभाव का महत्व हो बनता है। राजनीति श्रादमी को नहीं देखतीं, उसके प्रभाव को देखती है। प्रभाव में उसका बाज़ार-भाव है। उसका श्रन्तरंग भाव क्या है, यह विचार श्रमावश्यक होता है। तब प्रभाव बढ़ाना इष्ट होता और भाव-शुद्धि व्यर्थ होती है। लौकिक प्रतिष्ठा श्रात्म-निष्ठा से बड़ी और गौरव की चीज़ बन जाती है।

संस्कृति के लिए यह भारी खतरा है। यह श्रांकिक श्रीर पारिमणिक

दर्शन । भोतिक क्या, इसे ऐन्द्रियक दर्शन कहना चाहिए । मन मारकर तन सजाने की बात समऋदारी की तो समभी नहीं जा सकती । फिर भी उधर दौड़ दीखती है ।

पर मानवात्मा श्रपने विरुद्ध अधिक काल जा न सकेगा । संस्कृति विकृति की जकड़ से छुटकारा पायगी श्रीर राष्ट्रवाद मानवता को बहुत काल छावनियों में बाँटकर कटा-फटा नहीं रख सकेगा । प्रकृत मानव श्रपने को श्रीर श्रपनी एकता को पहचानेगा श्रीर बनावटी गर्व उसके प्रयास की राह से सहज भाव में गिर रहेंगे ।



### संस्कृति श्रीर संकट

रश् फरवरी को यहाँ दिल्ली में द्या० भा० काँग्रेस कमेटी की वैठक हुई। राजनीति राज चलाने या पाने की नीति है। राज शिक्त से बनता श्लोर चलता है। इसिलए शिक्त की ही वह नीति है। पर, गांधी जी गए तो ऐसा मालूम हुत्रा कि एक नई ताकत की राह बना गए हैं। वह कमजारी में से निकली हुई ताकत; बल नहीं, उल्टी श्रवलता की ताकत। यह विरोधाभास लगता है, पर श्रिहेंसा वैसी ही ताकत नहीं तो श्लोर क्या है ? गाँधीजी से मालूम हुत्रा कि निवंलों को भी श्रपनी निवंलता पीछे रखने की जरूरत नहीं है। बलशाली के मुकाबले शायद श्रागे निवंल को ही श्राना श्लीर जमना होगा।

वह जो हो, बैटक के हाल के वाहर ही भाई राजाराम जी मिले। टोक कर बोले—"जनवाणी के लिए कुछ तुम्हें लिखना है।" मैंने अपने को बचाया। एक तो इधर कुछ लिखने बना नहीं है, दूसरे जो लिखा है या लिख सकता हूँ वह आत्मापेची है। वास्तव की ओर से उसका मूल्य शून्य हो सकता है। जिसको आक्रेनिटब कहते हैं, वह रुख मेरे पास नहीं है। यथार्थ वस्तुता से अनजान भी हूँ। अब 'जनवाणी' तो समाजवादी पत्रिका है। समाजवादी सत्य मुक्त पर या तुम पर निर्मर नहीं है, वह अपने आप में सत्य है। वह समाज सन्वन्धी वैज्ञानिक सत्य है। लोग कहते हैं, यदि सचसुच वैज्ञानिक हो तो वह समाजवाद, सोशालिज्य नहीं; साम्यवाद, कम्यू-

निष्म होगा। लेकिन उस मेदांभेद की परख मुफ्ते नहीं है। जिसका सत्य निरपेत्त है श्रोर वस्तुस्थित है, वह निर्मम श्रोर वैज्ञानिक क्यों न होगा ? इस तरह मैंने माना था कि 'जनवार्यां' के लायक में क्या लिख सकू गा।

फिर हाल के अन्दर गए और सामने कार्रवाई शुरू हुई।

वहाँ काम-काजी लोग थे, जिनके समय का मूल्य है श्रीर व्यक्तित्व का वजन । देश की वागडोर जिनके हाथों में है, वे जन प्रायः सभी वहाँ थे। ऐसी कामकाजी वैठक में श्री जयप्रकाश नारायण के मुंह से 'संस्कृति' शब्द सुना तो मैं चौंका। कारण, वह शब्द हवाई है। उसमें भव्यता है श्रीर कविता है। इस तरह उसमें भला-भोलापन है, जो काम के वक्त दीला साबित होता है। टोसपन नहीं है, जो चोट ले श्रीर चोट दे। मैंने सोचा, इस कामकाजी जमाव में संस्कृति जैसे निष्काम शब्द का कहीं से श्रमर्गल प्रवेश तो नहीं हो गया है

देखा, जयप्रकाश जी धीर श्रीर लीन भाव से बोल रहे हैं। बात में श्रामह हो तो मैं समभ सकता था, श्रावेश हो तो भी शायद यथास्थान होता। पर मानों वे सुनने वालों के विवेक से बात कर रहे थे। यह मुभे कुछ श्रजब पर श्रव्छा लगा। श्रीर मेंने मान लिया कि इस मापण में श्राई संस्कृति निरी नारे की नहीं है, शायद लगन की भी हो। नहीं तो बात ऐसे भी कही जाती है कि मक्के-सी मुस्तैद श्रीर तीर-सी तीखी लगे। राजनीति की बात श्रवसर ऐसी होकर तुरन्त फल वाली हुआ। करती है। पर नेसा विशेष श्रामास न पाया, श्रीर जयप्रकाश जी को ऐसे ही बोलते पाया जैसे हम श्रापस में बोलते हैं, होले श्रीर धीमे, तो मेरे लिए यह मानने से बचने का श्रवसर न रहा कि इनके मुँह से निकली संस्कृति शायद काम-काज साधने की ही युक्ति नहीं है बिलक विचार श्रीर विवेचना के योग्य भी हो सकती है।

जयप्रकाश जी के कहने का अग्राय था कि यह जो गांधी जी को हमने गँवा दिया है, सो निरी घटना नहीं है। यह तो संस्कृति का ही संकट है। यह साम्प्रदायिकता का विप है, जो गहरा घर करता जा रहा है। जात-पांत पर, अलग-अलग फिरकों पर ऐसे जोर पड़ता गया तो सब खंड खंड ही न हो रहेग। १ हमारी इकट्टी संस्कृति कहाँ रह जायगी १ यानी, साम्प्रादायिकता की तरफ से आने बाला प्रहार गहरे संकट का सूचक है।

शब्द श्रीर हों, भाव यही था। श्रर्थात् जात-पाँत के सहारे जीवन चले तो राज का श्रीर राजनीति का क्या होगा ! सव तीन-तेरह ही न हो जायगा ! श्रीर, ऐहिक (सेकुलर) स्टैट के लिए जो श्रार्थिक प्रोधाम करने वाली पार्टियाँ होगी, उनको कहाँ मौका रह जायगा ! शें। भारत में ऐहिक लोक-राज्य ( डेमोक टिक सेकुलर स्टेट ) फिर कैसे बन पायगा ! इसमें तो सन्देह नहीं कि साम्प्रदायिकता संकट है । उत्कट होने पर उसके श्रन्दर की नफरत बाहर रिवालबर लेकर बढ़ती है श्रीर इत्या का राजनीतिक प्रगति का साधक उपाय टहराती है । इस तरह हिंसा एक पद्धित बनती है श्रीर उसका उपयाग बहादुरी का लच्चण् । सम्प्रदायों के प्रथमाव में से फिर श्रोर छोटे-मोटे वर्गों की प्रथकता निकलती है श्रीर वे स्पर्धा के श्रापार पर श्रपने दल बॉघते श्रीर नारे उठाते हैं। यीं जीवन सचमुच छिन्न-भिन्न हो जाता श्रीर समाज एक जंगल बन जाता है।

साम्प्रदायिकता की तरफ का लंकर बेशक छोटा नहीं है। किन्तु शायद वह अपली संकट नहीं है। वह तो निदान नहीं है, निशान मर है। इसिलए जो आन्तरिक है, जो मूलभूत है, शायद असली है, वह संकट चिंतनीय होना चाहिये। पूरे निदान और इलाज के लिए उसे ही पाना होगा।

द्धार्थीत् साम्प्रदायिकता की श्रोर से जो जहरीला प्रहार संस्कृति के प्रतीक गांधी जी की हत्या के रूप में हुत्रा, संस्कृति की दृष्टि से वह संकट हो सकता है। पर संस्कृति की श्रोर से परीचा इसमें है कि उस प्रहार का उत्तर कैसे दिया जाता है। मेरे देखते संस्कृति का प्रश्न टीक इसी जगह विचारणीय है।

संगठित धर्म, यानी सम्प्रदाय । उसके मुकाबले संगठित राजनीति, यानी पार्टी अथवा दल । जैसे सम्प्रदाय वैसे दल भी ऊपरी प्रहार द्वारा अपनी इच्छा का सुधार या परिवर्तन लाने में विश्वास कर सकते हैं। प्रश्न है कि क्या एक का प्रहार संस्कृति पर संकट, श्रीर प्रत्युत्तर में दूसरे का प्रति-प्रहार क्या संस्कृति का समर्थन होगा ? धार्मिक सम्प्रदायों को राजनीतिक दलों के पद्य में समाप्त करना क्या सही समक्षा जाएगा ?

मेरे देखते संकट शायद यह नहीं है कि हिंसा है । वह तो रादा से है, श्रागे भी शायद रहने वाली है । प्रश्न है कि हिंसा पर क्या प्रति-हिसा से काम लेते जाना होगा ? ऐसे क्या चक्कर कटेगा ? क्या कोई भी अलग होकर यह कहने वाला न होगा कि हिंसा हमें भोल लेनी है और फिर लौटा कर नहीं देनी है, हिंसा का अहिंसा से मुकाबिला करना है?

शायद जड़ का प्रश्न ऊपर आ जाता है। यह तो उदा से सुनते रहे हैं कि देखों वहाँ से तुमको, तुम्हाँरी संस्कृति को, जान-माल को, इज्जत-आबरू को संकट है। इसलिए आश्रो, वह तुरमन मजबूत और हमलावर हो उससें पहले ही हम उस पर चढ़ दीडें और उसे नेस्त-नाबूद कर दें। वह तुरमन है, आश्रो, उसे कुचल दे। इस तरह इधर से ललकार उठाई, कि उधर वालों ने भी देख लिया कि वे संकट में हैं और इधर उनका तुरमन मीजूद है। ऐसे पहले दुरमन देखकर, फिर अपने को उसका तुरमन बना कर, जो दुरमनी का विप-चक चला दिया गया है वह सारे इतिहास की छाती पर [कुएडली मार कर ऐसा बैठा है कि उसकी जकड़ से मनुष्य की जिन्दगी खुल नहीं पाती है !

ठीक है कि एक ने गांधी जी को मार झला ! कोई नहीं कह सकता कि गांधी जी गफलत में थे। क्या वह अपने को नहीं बचा सकते थे ? क्या सारी हकूमत इस काम में काम नहीं ह्या सकती थी ? पर नहीं ह्याई, श्रीर नहीं ह्याने दी गई। कारण कि यद्यपि हत्याकारी श्रीर उसके से विचार वाले ह्यामुक दल की ह्योर से ह्याने वाली हिंसा श्रवेध थी, ह्योर हकूमत की फीज ह्यार पुलिस वैध है—पर वैध माने जाने वाली हिंसा से भी गांधी जी ह्यवेध हिंसा का सामना करने में स्वयं विश्वास नहीं करते थे। छोटी हिंसा को बड़ी से श्रीर श्रवेध का वैध से रोका जा सकता है। पर इससे चक्कर नहीं कटता, यिक मजबूत ही होता है। श्रवेध हिंसा से संस्कृति को संकट है, लेकिन वैध हिंसा में भी संस्कृति की सेवा नहीं है।

ऊपर की बात सैद्धान्तिक श्रोर व्यवहार से श्रञ्जूती लग सकती है, लेकिन संस्कृति के संकट का यदि प्रश्न है तो वह नितांत विचारणीय है। बल्कि यही एक बात विचारणीय है।

दल धार्मिक मतवादों को ऊपर उठा कर जुट सकते हैं, जैसे भारत में हुआ है। इसी धर्मवाद के आधार पर यहाँ विभाजन हुआ और पाकिस्तान बन गया। गांधीजी के नेतृत्व में कांग्रेस ने सदा एकराष्ट्र का सिद्धान्त माना था। लेकिन नीचे ज्यवहार दुई की भावना लेकर चला, और कोमें दो नहीं तो हक्ममने दो बनी ही। सिदयों से हिन्दुस्तान में वसनेवाले सब लोगों के बीच इकट्ठापन बढ़ता चला आ रहा था, जो अनिवार्य ही था, कि अंग्रे जों के आने से यह काम एक गया। अंग्रेज उनके बीच मुंसिफ़ बनकर रहा और हिन्दु-मुसलमान की गैरियत जो बराबर कम होते जाने को लाचार थी उस अंग्रेज के सहारे हरी ही वनी रही। फिर भी यह पराया-पन ऊपरी था, वहीं तक जहाँ तक राजनीति की पहुँच थी। धरती से और मेहनत से लगकर रहने वाला ओसत इन्सान, हिन्दु या मुसलमान, मिल जुल कर रहता था। उन दोनों के दरमियान हर तरह का लेन-देन का रिश्ता था। छोटे-मोटे किस्से खुद सबृत थे उस रिश्ते के। यानी तरह-तरह के रीतिनीति के, मेल-ज्यौहार के नातों से सारा हिन्दुस्तान एक तरह की हिन्दुस्तान नियत में मिलता जा रहा था। अंग्रेज के जाते-जाते हिन्दुस्तान के

डकड़े जो हए. तो यह सदियों से चली आती हुई कुदरत की कोशिश के खिलाफ काम था। इकमत में श्रीर सियासत में रहने वालों के दिमारा कुछ इस दुई के ऋादी ऋौर हिमायती हो भी गए हों. मुल्क का दिल इसके लिए तैयार न था। वहाँ से जो गुस्सा श्रीर तनाव, मुसीबन श्रीर तबाही, बरपा हुई उसे कौन नहीं जानता। यह संस्कृति के खिलाफ काम था, बह रांस्कृति जिससे इन्सानियत छुट नहीं सकती श्रीर जिसकी टेक पर मानव-जाति को बढना होगा। उस कसोटी पर सियासतें और हकमतें कसी जाएंगी श्रीर फंक दी जायेंगी। वही इतिहास के लिये कसीटी बनेगी श्रीर सब राज-नीतियों का फैसला करेगी। हिन्दुस्तान में धर्म के श्राधार पर, तो यूरोप में जातियों के श्राधार पर काम काज चलाया गया। मगर वहाँ लडाइयाँ ज्यादा हुई, करल और खुन ज्यादे हुआ, और कही जाने वाली सम्यता भी शायद ज्यादे हुई। वहाँ की जिन्दगी सियासत को लेकर उसमें श्रलग-श्रलग नाम श्रीर नारे ईजाद करके जुटाई श्रीर समेटी जाती है। हिन्दु श्रीर मुसलमान के बीच की नफ़रत फासिस्ट श्रीर कम्यूनिस्ट की श्रापसी घ्या से क्या कुछ ग्रालग तरीके की चीज़ है ! राजनीतिक होने से क्या उस नफ़रत की संभावनाएं मीठी बन जाती हैं ! क्या वह कम नशंस ख्योर कम भीषण होती है !

संस्कृति का यदि प्रश्न है, तो क्या धार्मिक, क्या राजनीतिक, या क्या दूसरे तात्विक, सब मतबादों के लिए एक सो स्वतंत्रता और एक-सी मर्यादा होनी चाहिए। धार्मिक होने के कारण एक मतबाद श्रिषक प्रभावक और गहरा हो सकता है, इसी से किसी नये फैशन के प्रचलित राजनीतिक मतबाद को सामने करके उसे श्रिषक स्वच्छन्दता देने का कोई मौका नहीं होना चाहिए। मानव सम्बन्धों को लेकर संस्कृति बनती है। उन सम्बन्धों में जब हिंसा श्राती है तभी विकृति श्राती और संस्कृति के लिए संकट उपस्थित होता है। धर्म-चेत्र के बिद्धे प श्रीर विग्रह को राज

श्रीर समाज चेत्र में लाकर रोप देने से ही संस्कृति की रत्ता श्रीर सेवा हो जायेगी, इसे भ्रम ही मानना चाहिए।

इसलिए प्रश्न नहीं है राष्ट्रीय स्वयं सेवक संघ, हिन्दू महासभा या काँग्रेस का, श्रथवा राष्ट्रीयला श्रोर सम्प्रदायिकता का भी। क्या श्रपने में स्वयं सिद्ध धर्म ठहर कर राष्ट्रीयता एक उथली साम्प्रदायिकता ही नहीं रह जाती ? श्रोर सम्प्रदाय, फिर वे धर्म के श्राधार पर ही बने हों, क्या कानूनन नाजायजा होने लायक समभे जायेंगे ? ऐसा होगा तो सचसुच वह संस्कृति के लिए वह भारी संकट का दिन होगा।

गाँधी जी राष्ट्र के पिता थे, सो क्यों ? क्योंकि ने सबको—सब व्यक्तियों, समूहों, संस्थाओं श्रीर संगठनों को—पूरा श्रवकाश देते थे। डिमोके सी का यही नहीं, तो दूसरा क्या श्रर्थ है ? डिमोके सी के सार को श्रन्दर लेकर चलने वाली भारतीय संस्कृति गांधी जी के हाथों पूरी तरह मान्य श्रीर प्रतिष्ठित हुई। कारण, उन्होंने बैर की राजनीति के बीच निवेर की धर्म-नीति को प्रतिष्ठित किया।

क्या इस मानें कि हिंसा जीती, गाँधी जी हारे १ गाँधी जी की मृत्यु इसका जवाब है। वह मृत्यु उनके लिये अमरता की मुहर बनी है। श्रीर उससे बड़ी पराजय हिंसा के लिए दूसरी हो नहीं सकती।

तो संस्कृति का सवाल इस जगह है कि हम पृथा को, द्वेप को कैसे जीतें ! श्रपने से वाहर के द्वेप श्रीर पृथा को श्रपने श्रन्दर की निर्वेरता से जवाब देने लायक हम नहीं हैं, श्रीर एक तरह के बेर से ही उसे काटने चलते हैं, तो यह संस्कारिता की हार श्रीर विकार श्रीर संहार की जीत हैं।

सचसुघ गांधी जी के बाद भारत कसौटी पर है। उनकी उत्तराधिकारी श्रौर उनके नाम से स्कूर्ति श्रौर सहारा लेने वाली राजनीतिक पार्टियां मान लें कि उनकी परीचा है। गाँधी जी की टेक थी कि हकूमतें चाहे दो हो गई हों, हिन्दुस्तान के दिल दो नहीं हो गए हैं। काँग्रेस के द्वारा संस्कृति कीं सेवा या रचा होनी है, तो उसको वह बनना होगा जो हिन्दुस्तान के समूचे संयुक्त हृदय की प्रतिध्वनि है। उसमें सब के लिए समाई हो। श्रहंकार में अपने को इतना सही मानने वाले हो सकते हैं कि जिन्हें सत्ता हथियाना इतना जरूरी मालूम हो कि अपनी राह के विध्न को हिंसा से दूर करना वे पुरयकर्म गिनें। उनका इलाज हक्मत जो चाहे करे। यो हर मत और हर व्यक्ति को होने का, और श्रपना मान रखने का, श्रधकार है श्रीर हर संस्था श्रपने तन्त्र में स्वाधीन है। इस तरह हिमोक्रेसी को श्रपना सार हमेशा के लिए श्रहिंसा की जान और मान लोना है।

किन्तु व्यवहार की राजनीति का तर्क अपना है। वह शक्ति का तर्क है। विचार श्रीर व्यक्ति तात्कालिक शक्ति की श्रपेद्धा से ही वहाँ विचा-रणीय वनते है। वह दलबद्ध प्रवृत्ति है। दलों में वह अपना हिसाब विठाएगी श्रीर उनके बीच जय-प्राजय की युक्तियाँ रचेगी। श्रमुक दुर्घटना उसके लिए श्रमुक वर्ग या दल को मिटाने का श्रवसर ही देने वाली दीखेगी। यह व्यावहारिक राजनीति, पावर-पालिटिक्स, पहले तो भारत का ही मेल नहीं साध सकती, फिर हिन्दुस्तान श्रीर पाकिस्तान का मेल, जो कि श्रसली श्रीर दिली समस्या है, यह तो उसके गुमान में भी श्रा नहीं सकता है।

राजकीय समस्या भारत की झला देख ली जावे, किन्तु सांस्कृतिक समस्या उस तरह पाकिस्तान को और फलतः सुसलमान को झला कटा हुआ मानकर चैन नही पा सकती । यहां संस्कृति को निर्विशिष्ट और समग्र भाव में लिया है । विशिष्ट और सीमित और नामधारी संस्कृति, जो इन्सान से श्रिधिक विद्वान की है, उसकी चर्चा यहां नहीं है ।

गाँधी जी ने भारत की राष्ट्रीयता को उस बुनियाद पर रखा जहाँ जाति, धर्म, श्रौर वर्गो श्रादि मेदों का महत्व नहीं है। वहां सब समान हैं श्रौर सब के लिये समाई है। धर्म के विविध रूपों अथवा शरीशें की रच्चा करते हुए उसकी ऋखंडता, उसकी ऋात्मा की एकता, को उन्होंने जगाया ऋौर चलते चलते गुहार दी:—

#### 'ईश्वर श्रल्लाह तेरे नाम'

हिन्दू मुसलमान की, कॉंग्रेस कम्यूनिस्ट की, मेरी तेरी यदि यह लड़ाई थी कि हिन्दुस्तान (का राज ) तेरा नहीं मेरा है, तो गाँधी ने कहा कि हिन्दुस्तान के मालिक तो वे हैं जो धरती में पसीना डालते ख्रीर वहाँ से सब के लिये ख्रन्न उगाते हैं। वे वस उत्पादन ही अपना भाग मानकर बाकी लूट-लसोट का काम बाचालों के लिये छोड़ देते हैं। इसिलए हिन्दु-स्तान किसी का है तो उसका है जो इन मूक महनती जनता का ख्रकिंचन सेवक है, जो यह सेवा मानो प्रायश्चित की भावना से करता है। इसी तरह धर्म के भामले में ईश्वर ख्रीर ख्रल्लाइ को एक पुकार में मिला कर उन्होंने बता दिया कि भगवान किसी का नहीं है, सबका है। श्रीर जो ख्रपनी कुरबानी देता है उसे पाता है।

संतेप में संस्कृति को संकट किसी दल अथवा मत से नही हो सकता, क्योंकि वह वस्तु दल-गत या मतवादी है ही नहीं। जिन्दगी की प्रदृत्ति आर्थिक योजनाओं के अधीन चले, आर्थिक व राजनीतिक दृष्टिकोण से चले, या फिर कोई अपने किसी दूसरे दृष्टि विन्दु से या दूसरे कार्यक्रम से चलाये—उस सव के सम्बन्ध में संस्कृति का कुछ मतामत नहीं है। आदमी का आदमी पर प्रहार न हो, दवाव न हो, असम्मान न हो; बल्कि हर दो के बीच सहानुभूति, सम्मान और सहयोग का सम्बन्ध हो; हर दो पड़ीसी माईचारा रखें; अर्थ-सम्बन्ध सहयोग का सम्बन्ध हो; हर दो पड़ीसी माईचारा रखें; अर्थ-सम्बन्ध सहकार के आधार पर हो, रामाज स्वेन्छित-सहयोग पर वने और व्यक्तित्व की निजता को अवसर और अवकाश हो—ये संस्कृति की आवश्यकताएं और लच्चण हैं। बेशक हर-एक की निजता अलग और अनोखी होने के कारण समस्थाएं हांगी और संघर्ष होंगे, लेकिन यदि उन संघर्षों में भी सद्भाव रह सका तो जिन्दगी को और मरापूरा, विविध और सुन्दर बनाने वाले वे होंगे। इस तरह मत-

भेद वड़ी पवित्र और मृल्यवान वस्तु होगी, क्योंकि वह अपनी अपनी ईमानदारी की पहचान होगी। हरेक का व्यक्तित्व अपने में पुष्ट और इमिलिए किसी कदर दूसरे से मिन्न होगा, तभी परस्पर सहयोग और सहकार कीमती भी हो सकेगा। और तभी डिमोक सी केवल संख्या की और बोट की, भीड़ की, चीज़ न रहेगी, बल्कि वह होगी जो कि होनी चाहिए। यानी प्रत्येक की स्वाधीन चेतना को वह बल देगी और उसकी आवाज शुद्ध विवेक की यानी संशिल्प्ट मानवता की होगी।



ď

ı

### रोटी का मोर्चा और संस्कृति

एक लेख मेरे देखने में आया, ''रोटी के मोर्चे पर संस्कृति के गीत।'' श्रपना शीर्पक मैंने वहीं से लिया है। उनके लिए लेखक का आभार मानना और उनसे सुमा मांग लेना जरूरी है।

यह तो लेख क्या एक गद्य काव्य ही है। सुन्दर श्रीर भावुक। कला श्रीर भावुकता के योग से कठोर भी मनोरम दीन्व पड़ता है; लेकिन इस जगह मनोहर सुक्ते प्रयोजनीय नहीं है। प्रयोजनीय है मोर्ची, यानी उसकी समकता। मोर्चे पर जा डटने से पहले मैं उस मोर्चे को जान लेना चाहता हूँ। रोटी को तो मैं जानता हूँ, भूख श्रीर भोग दोनों के द्वारा ही। लेकिन उसका मोर्ची क्या चीज है, यह शायद गवेपणा की वस्तु है। यह भी पाना होगा कि फिर संस्कृति से उसकी क्या संगति है।

रोटी का एक मोर्चा तो मेरे यहाँ भी कायम है । उराका नाम है चौका । एक थाली में कक्कू, कुम्मो, श्रीर कुन्ने बैठते हैं तो श्रक्सर मोर्चा गरम देखता हूँ । छीन-फपट होती है, ले-दे मचती है, फिर मीठा उनहार-मनुहार भी होता है । उस चौके के श्रीर भी पहलू हैं । एक, रहिची जो कि खाना बनाती है । दो, स्वामी जो सादर पहले जिमाये जाते हैं । तीन, कहारिन जो रोटी के जूठे वर्तन माँजती श्रीर बचा-खुचा पाने की जुगत में रहती है । फिर सबके बाद मेहतर जो बासी श्रीर जूठन बचने पर श्रपना हक जमाता है । चौका यदि मोर्चा है तो इन सबके लिए उसका रूप श्रवग-श्रलग है । पित महाश्रय के लिए वह रूप पैसा है, पत्नी के लिए सेवा, कहारिन के

शिए चाकरी और मेहतर के लिए भीख । बच्चों के लिये वह एक ही साथ कीड़ा और कुश्ती का अखाड़ा है ।

लेकिन में जानता हूँ कि प्रश्न व्यक्तिगत नहीं है, पारिवारिक भी नहीं है। इस पद्धित से सब का अपना-अपना होकर तो प्रश्न बिखर जाता है और शायद तब गंठीला भी वह उतना नहीं रहता। पर नहीं, प्रश्न का वह रूप निवैंयिकिक नहीं है। निवैंयिकिक ही वैज्ञानिक होता है। अतः भोची असल वह है जो निवैंयिकिक है, सामाजिक है, सार्वजनिक है। इस लिए वह राजनीतिक और तालिक है।

निस्संदेह दिमाग पर वहां तक जाने में जोर पड़ता है जहां रोटी का मोर्चा इस कदर क्रांतिकारी है कि स्थूल रोटी का वास्ता उससे नहीं रहता, खालिस मोर्चा ही मोर्चा रह जाता है। जोर पड़ता है इसी से वह महत्वपूर्ण है।

उस रोटी को जानना श्रासान है जो गेहूँ से बनती है, बनाने में जिसके तरह तरह की मेहनत लगती है, श्रोर जो भूख भरती है। पर वह रोटी, जिसका सम्बन्ध न तो गेहूँ से है, न श्रम से है, बल्कि सीधा सम्बन्ध कांति से श्रीर मोचें से है, इतनी गहन श्रीर स्त्रम हो जाती है कि उसे मुट्ठी में लेना श्रीर पेट में डालना संभव नहीं हो पाता। वह दिमाग की चीज मालूम होती है। श्रागर वह किसी की सूख मिटाती था बढ़ाती है तो शायद दिमाग वाले के दिमाग की ही।

रोटी का मोर्चा इस तरह उनका नहीं मालूम होता जो पेट के भूखे हैं, यह उनका है जो भूखे दिमाग के हैं। वह मोर्चा दिमागियों का है।

एक मन्दिर के द्वार पर श्रवसर देखते हैं कि मुखमरों की पाँत लगी है। मूखों को पांत में लाना छोटी बात नहीं है। उनके लिए भीड श्रीर मुख ही प्रकृत है। लेकिन वह लाला, जो गिनती की रोटी लाते हैं श्रीर गिन-गिनकर ही उन्हें दे सकते हैं, हो-इल्ला पसन्द नहीं करते, तरतीय

सिन्द करते हैं। इसलिए एक को एक ही रोटी मिले, यह सुभीता श्रपनी श्रार से लाला जी को देने के लिए भुखमरों ने पाँत बाँधना सीख लिया है। जब तक पंक्ति है, तब तक शायद मोर्चे का पूरा मजा हमको उस दृश्य में नहीं दीखेगा। पर बहुधा पांत टूट जाती है श्रीर छीन-भपट चल गड़ती है। रोटी के मोर्चे का चित्र उससे हूबहू श्रीर कहाँ मिलेगा, मैं जानता नहीं हूँ।

रोटी को चौके से तोड़ लीजिये श्रीर मोचें से जोड़ दीजिये। चौके से जुड़कर वह श्रम की श्रीर व्यवस्था की वस्तु हो जाती है। लेकिन इसमें मोर्चे की हानि है। क्राँति मोर्चे के सिवाय कहीं श्रौर से नहीं निकलनी है। इससे रोटी के सवाल को अम से जोड़ना खतरनाक है। यों रोटी बनेगी पर मोर्चा टूटेगा । मोर्चे को मजबूत रखने के लिए वह नहीं होने देना होगा। इसलिए मूख की बात को इतना ऊंचा उठाना होगा कि भूख का काम हो ही न सके। कौलाहल में शक्ति है। भूख है, तभी तक कोलाहल की प्रवृत्ति है । भुख मिटने पर शोर मचाने का चाव धीमा हो सकता है । इस-लिए बौद्धिक का यह कभी कर्त्तव्य नहीं है कि अम करे या अस करावे। उसका कत्त व्य इससे कम नहीं हो सकता कि वह क्रांति करे श्रीर क्रांति कराये। कारण, वह बीदिक है, दर की सोचता है, सदम को पकड़ता है। भख में से क्रांतिकारी शक्ति जगाने का जो काम है वह उसका है। उसके लेखे क्या बुरा है कि भुख बढ़े। पेट की आग को राजनीति की आग बनाना उतना कठिन नहीं होगा । उस आग के जोर से ध्वंस होगा और उससे तख्ता उलट-पलट होगा । तब नये राज्य को होना होगा ! श्रीर वह नया राज किन का होगा ! सिवाय उनके ऋौर किनका, जिन्होंने मोर्चा बांधा था श्रीर जिन्होंने नमोर्चे से कम का कोई काम नहीं बौद्धिक की बुद्धि त्र्यासपास क्यों रहे, वह शक्ति के स्रोत, उसके मंत्र-तंत्र-यंत्र को इस्तगत करने की सोचने तक क्यों न जाय। अतः कोई मजबरी नहीं है कि बौद्धिक श्रमिक बने। श्रांग्रेजी भाषा, उसके द्वारा

विश्व का इतिहास, उसकी राजनीति श्रीर उसका श्रार्थशास्त्र उसने व्यर्थ ही नहीं पढ़ा। नेपढ़ा रहता तो कदाचित् श्रीमक उसे बनना पड़ भी सकता था। पढ़-लिखकर भोला किसान मजदूर बननेवाला वह नहीं है। हो, नेता उनका बन सकता है। श्रीमक तो श्रव वह बनेगा ही क्यों। श्रलबत्ता धनिक न वन सका, तो धनिक का दुश्मन बनना तो उतना श्रसंभव कार्य नहीं है। उस पद्धति से एक दिन धनिक के सिर पर प्रभु बनकर बैठने की तरकीव निकल श्रा सकती है। बौद्धिक बनकर, खुडि पैनाकर वह इतना भी नहीं कर सका तो उससे श्रीर क्या श्रारा की जा सकती है? नहीं, वह प्रचार करेगा, संगठन करेगा श्रीर काँति करके ही छोड़ेगा—काति, कि जिसमें श्राज का बड़ा श्रादमी पामाल दीलेगा श्रीर जनता के भूख के मोचें पर मंडा लेकर, धोब देकर, ऊँचा उठने वाला नायक बहाल होगा। श्रीमक की श्रोर से उसकी सहानुभृति में बौद्धिक वर्ग को ही तो नये राज्य का श्रधनायकत्व सम्हालना होगा। इसके लिये खुद रोटी से ज्यादे रोटी के मोचें पर श्रांख रखनी होगी।

मैं मानता हूँ कि रोटी के मोचें पर संस्कृति नहीं चाहिए, संस्कृति का गीत नहीं चाहिए। मेरे विचार में वहाँ रोटी श्रीर रोटी का श्रम भी उतना नहीं चाहिए। वहाँ मोची चाहिए, गीत भी मोचें का ही चाहिए श्रीर मोचें को चेताने के लिए रोटी से ज्यादे उसका श्रभाव चाहिए। वहाँ तीसी श्रीर बाँकी राजनीति चाहिए। रोटी के लिये प्लान बन सकते हैं, स्कीमें बन सकती हैं, लैक्चर बन सकते हैं, श्रीर मार्च-कृच के नक्शे बन सकते हैं। क्योंकि इन सबकी मोचें से संगति है, श्रीर स्वयं रोटी से संगति नहीं है।

रोटी के मोचें सुमें इस तरह दो ही दिखाई देते हैं। घर-घर जो उस के लिए मेहनत हो रही है, नाज उगाया जा रहा है, चक्की पीली जा रही है, वह तो ठंडे अम की बात है। इसलिए वह तो मोचें के नाम पर उतनी विचारगीय नहीं है। उसके लिए विचार से अधिक लगन श्रीए चात से अधिक काम चाहिए। उसके लिए राज की बात करने श्रीर राज की चाह करने से अधिक स्वयं कम में काम चला लेने श्रीर श्रिधिक-से-श्रिधिक उपजाने की दरकार होगी। इससे उसमें मोर्चा कम बनेगा, काम अधिक बन चलेगा। श्रतः उसकी बात वृथा है। मोर्चे श्रसल में दो हैं— (१) जिस पर उपकारी है, (२) जिसके ऊपर क्रांतिकारी है।

१—उपकारी रोटी का सफल मोर्चा बना पाता है। हो यह भी सकता था कि भिलारी भिलारी न रहता, वह नागरिक होता श्रोर श्रपने हक श्रोर श्रम में से रोटी पा जाता। उपकारी उस संभावना पर जाना नहीं चाहता। रोटी के लिए उसके श्रागे हाथ पसारने वाले नहीं होंगे, तो वह रोटी बाँटने का काम कैसे कर सकेगा शवह काम तो श्रच्छा है न। इससे उसकी तसल्ली मिलती है। स्वयं तो उसे भोग श्रोर श्राराम में रहना पड़ता है। इस काम में लगता है कि वह धर्म कर रहा है। धर्म का श्रवसर खोने की बात उस भावनाशील के मन में क्यों श्राने लगी। इसलिए उसका मुख्य लाभ यह नहीं है कि मुखे को रोटी मिल जाय, उसमें यह भी शामिल है कि उसके श्रपने हाथों से बंटकर वह रोटी उनको मिले। वह धन के रूप में रोटी उनसे खींचता है, फिर दान के रूप में वही उन्हें देता है। इसमें लाभ यह होता है कि मोर्चा पैदा होता है। प्रकृति से जो दो श्रादमी थे, इस व्यवस्था से एक उनमें वानी श्रीर दूसरा दयनीय बनता है। श्रमीर श्रीर गरीब का लोप होने से मोर्चे का मजा कम न हो जायगा!

२—दूसरा मोर्चा जो उससे बड़ा है राजनीतिक विचारक श्रीर क्रांति के कर्मचारी की कला-सृष्टि है। 'से मूखे लोगो, तुम मूखे होन! श्राश्रो में जुम्हें स्वर्ग की राह बताता हूँ। वहाँ रोटी ही नहीं है, मन चाहा सब कुछ है। "वह देखों" दीखा! उसके लिए, बोलो, कुछ करोगे! तो लाश्रो, मुर्भे चीट दो। "श्रो प्रतिपद्मी, सुन, मेरी वोट मूखे की रोटी की बोट है, जब कि तेरा वेईमानी की।" "वह श्रवश्य चाहता है कि सब को होटी मिले, लेकिन उसके अपने हाथों से बँटकर मिले। अपनी जगह पर अपनी मेहनत से हर कोई खगर खपनी रोटी कमा लेगा तो इस तरह राजनीतिक शक्ति के एकत्र होने का ऋवंतर कैसे ऋायेगा । बोट के रास्ते से पहले सब्की रोटी एकत्र करके ऋपने पास करली जाय: तब फिर उनको बराबर बराबर बाँटने का काम हम कर ही लेंगे। ऐसे पार्टी स्टेट के माध्यम से सब में एकता रहेगी ह्योर रोटी केन्द्र से बँटी होने के कारण नमता भी सब जगह समतल रहेगी। रोटी अपने हाथ से दूसरे को दी जाय, इसका स्वाद एक अलग ही चीज है। सब को सहज भाव से रोटी मिलते जाने से वह स्त्राद पूरा नहीं हो पाता, इसके लिए मोर्चा बनाना ज़रूरी होता है। जिसकी कहते हैं राष्ट्रीयकरण, सरकारीकरण, वह बहुत कुछ यही मोर्चावन्दी है। दस हजार मिल गजदूर एक मिल-मालिक से श्रपनी रोटी पाते हैं। पाँच लाख कलम के मजदूर क्लर्क एक सरकार से रोजी पाते हैं। लाखां-करोड़ों प्रजाजन शासनासन पर बैठे राजन्य जनों की कपा से साँस लेते झोर पेट पालते हैं। इस श्रधिकार-भोग का सभीता मोर्चा खड़ा किये बिना कैसे बन सकता है। इससे 'ऐ नागरिको । पार्टी अनुशासन में पाँत बनाकर बैठो। नम्बर आये तब अपना नाम बोलना और बोट देना । उसके बांद तम्हारी तरफ से इस जायेंगे और सब रोटी जहाँ जमा हैं. वहाँ से लाकर बराबर बराबर तम में बांट देंगे। जानते हो तम क्यों भखे हो ! क्योंकि अव्यल तो एक रोटियों का देर नहीं है। कुछ अपने चौके चलाते हैं। रोटी, जो किसी की निजी सम्पत्ति है, वहीं तो मुसीबत है। तुम हमें मौका दो कि छीनकर पहले सबकी रोटियों का एक बढ़ा ढेर लगा दें, फिर देखना कि हम सबकी पूरी तरह पेट भर कर देते हैं कि नहीं। पर सावधान! हम ही हैं जो तुम्हारा पेट मरेंगे। उस श्रिधिकार की जगह कहीं दूसरों को पहुँचने दिया तो गजब ही हो जायगा !'

यह रोटी का दूसरा मोरचा उसके हाथ नहीं है जिस के हाथ में पकी पकाई रोटी है। यह उनके पास है जिन के हाथ खाली हैं, इससे जिनके

पास रोटी के बड़े वायदे श्रीर नक्शो हैं। वायदे छोटे होने की वजह नहीं है, इससे मोर्चा भी बड़ा है। धन की कृत हो सकती है, श्राशाएँ श्रकृत हैं। इसलिये श्राशाश्रों पर भूख को श्रीर भूखों को पालने वालों का रोटी का यह मोर्चा सचमुच ही उपकारियों के मोर्चे से बहुत जबर्दस्त श्रीर ताकतकर होता है।

इन दोनों से बाहर तीसरे मेरचे की मुफे खबर नहीं है। तीसरे जन शायद वे हैं जिन्हें रोटी के लिये सहयोग श्रीरश्रम करना पहता है। तीसरे इसलिये कि कोलाहल में भूख श्रीर भूखों के नाम पर पेटमरों के जो दो पद्म सामने श्राते हैं, मोर्चाबन्द तौर पर वे ही सामने दिखाई देते हैं। श्रसल भूख श्रीर श्रसल रोटी की उपज श्रीर माँग के लोग तो श्रीट में पड़कर तीसरे बनने को ही रह जाते हैं। वे मोर्चा नहीं रोटी चाहते हैं श्रीर श्रमने श्रम में से रोटी निकालने में उन्हें कोई श्रापत्ति नहीं है। वे शब्द के नहीं श्रम के लोग हैं, नेता जाति के नहीं जनता-विरादरी के हैं।

श्रतः प्रश्न मोर्चे का नहीं है। प्रश्न यह है कि बिना मोर्चे सीधे सात्विक अम में से रोटी मिलना क्या संभव न बन सकेगा रै

निश्चय ही रोटी अगर मोर्चाबन्दी में से मिलनी है तो अम का शोपण कभी समाप्त न होगा। तब चालाक ही होंगे जो अमिक का पेट मरने वाले बनकर उनपर हुकूमत जमायेंगे। अगर शोपण को मिटना है तो जीवन में अम को अपना स्थान पाना होगा और मोरचावादियों को मोर्चे से खुटाकर असल काम में लगाना होगा।

राजनीति की लफ्फाजी गूंगे श्रीर श्रपढ़ मेहनती को कब तक मरमाती श्रीर वहकाती रहेगी १ क्या मोर्चा सुलगा कर उस पर श्रपनी हाँडी पकाने वालों के लिये ईधन बनना ही जनता का काम रहे चला जायगा ?

समय है कि राजनीति का भूस हम पर से उतरे। सब दल सोचते हैं कि सत्ता श्रा भर जाय हमारे हाथ में एकबार, तो बस हम यह श्रीर वह करके धरती पर स्वर्ग चुटिकयों में ला बिटायेंगे। •ऐसे उटोपियों के पीछे चलाकर शब्दवादियों ने जगत में त्राहि-त्राहि मचा दी है।

बस यही संस्कृति की संगित है। राजनीतिक क्या शिकारी ही रहेगा? वह संस्कारी न बनेगा? श्रानी वासनाश्रों को वह खुली छुटी ही देगा कि उन्हें लगाम भी देना वह जानेगा? सच यह है कि संस्कृति के सिवा यह किसी श्रीर का काम नहीं है कि होड़वाजों श्रोर स्पर्धावादियों के गिरोहों श्रोर मोचों के बीच वह उस निरीह मानव की प्रतिष्ठा करे जिस के पास स्तेह का हृदय श्रोर काम-काज के हाय हैं। मानव-व्यक्तित्व श्रीर मानव-श्रम की प्रतिष्ठा यदि संस्कृति की श्रार से ही नहीं श्रायेगी तो किर किस श्रोर से उसकी श्राशा की जा सकती है? मतवादों श्रीर राष्ट्रवादों के दगेंडत उन्मादों के बीच मानव को श्रीर मानव-जाति का मुनते मरते ही नहीं रहना है। इसिलये कहा कोई श्रीर मोची नहीं है, मानव व्यक्ति स्वयं ही वह मोची है श्रीर रचनात्मक श्रीर धर्जनात्मक सब शक्तियों को वहाँ ही लगना है। श्रेप व्यर्थताश्रों पर कान न देकर एक मानव पर टेक रखने वाली श्रद्धा का नाम संस्कृति है। उसके सिवा संस्कृति भी श्रीर कहां नहीं है। श्रीर कहीं यदि उसकी दुहाई है तो मान लीजिये कि वह उस श्रोदन में इस या उस तरह की दलबन्दी ही है।

मूल में इस सांस्कृतिक श्राधार के बिना रोटी के मोर्चे सिफ़ ताफ़त हिंथयाने श्रीर श्रस्त-शस्त्र बढ़ाने का साधन होंगे। तब सिफ़्री दो कोमें हाती जायेंगी; एक जो खायेगी श्रीर हुक्मत करेगी, दूसरी जो उपजायेगी श्रीर मूखी रहेगी। सरकारों के बजट का श्रसल भाग फीज श्रीर युद्ध श्रीर बचाव के लिये होगा श्रीर बनाना नहीं बिगाइना बड़ा काम होगा। यह रंक होगा जो बनाता उपजाता है, राजा वह होगा जो बिगाइता श्रीर खुटाता है। संस्कृति की सावधानी के श्रमाव में शिकारी हमें श्रादर्श होगा श्रीर श्रमिक हमारे लिये नगर्य । मोर्चे की बार्ते जाने-श्रमजाने वही दिन लायेंगी। संस्कृति की तत्परता शायद उसे बचा सके।



# ः । शान्ति : युद्ध



### शान्ति और युद्ध

दुनिया एक युद्ध से मुश्किल से पार हुई है कि दूसरा उसके लिर पर आ मँडराया है। इससे दुनिया की आज की समस्या है शान्ति। जगह-जगह शान्ति के लिए सभाएँ हो रही हैं। उन लोगों की तरफ से जो सोचते हैं, और उनकी तरफ से भी जो करते हैं। ऐसा मालूम होता है कि सभी चाहते शान्ति हैं; पर पाते हैं कि जाने-अनजाने, अवने से या अपने बाबजूद, वे युद्ध में बढ़े चले जा रहे हैं।

निश्चय ही कोई युद्ध नहीं चाहता । युद्ध होगा, तो शस्त्रास्त्र की तैयारी
में लगे पत्त उसकी जिम्मेदारी सदा वूसरे पर डालेंगे। लक्कने बाले दोनों दल
श्राप-श्रपने को शान्ति वाला बतायेंगे। श्रीर उन्हें कूठ भी नहीं मानना होगा।
कारण, लड़ाई सचमुच उन्होंने चाही नही है, सिर्फ बनाई है। हस बात को
समभ सकें तो समस्या पकड़में श्रा जाय। जो लड़ते हैं, वे लड़ना (शुरू
करना) नहीं चाहते। लेकिन उनमें हर एक मानता है कि वूसरा हमला करे
तो जवाब में लड़ने के सिवाय उपाय नहीं रहता। मरना जब धर्म नहीं है,
तो धर्म जीना है। इससे जीने पर जब श्रा बनती हो, तब जान बचा लेना
ही धर्म उहरा। इस तरह सुरखा में शत्रु को मारना या श्रपनी तरफ से उसकी
जान का खतरा पैदा कर देना भी श्रावश्यक धर्म बन श्राता है। हम देखें
कि लड़ाई यों जीने की श्रानिवार्य शर्ता के रूप में हमारे बीच श्रा जाती है।

जंगल में प्राणी का जीवन कैसे चलता है ! वहाँ हर्एक स्वतन्त्र है कि जिसको बने मारे-खाये श्रीर जैसे हो श्रपने को मारे श्रीर खाये जाने से बचाये। इस प्रकार की निर्वाध स्वतन्त्रता का नाम है जंगली जीवन। श्रादमीं उसी में से आया है। शायद आज भी उसमें ही रहता है, लेकिन अपने रहने के दंग को सभ्य कहता है। जानवर को जंगली श्रीर अपने को सामाजिक बताता है। लेकिन अगर जीने का तरीका उसका यही है कि जो हो हथियाये और जैसे बने अपने 'को बचाये, तो उसको जानवर से कुछ दूसरा कैसे कहना होगा ?

बन्य पशुत्रों की लड़ाई जिन्होंने देखी है, बताते हैं, कि श्रद्भुत होती है। कमाल की पैंतरेबाज़ी वहाँ देख लीजिए। इधर शेर के पास नहँदार पंजे हैं, तो स्झर के पास तीखे दाँत। इस तरह श्रलग-श्रलग खूबियों के हथियारों से मुकाबले में वह चोटें चलती हैं कि सौन्दर्य का विलच्च पाचमत्कार उपस्थित होता है। बड़े लोगों के बैठकखानों में इसीसे बिलास की नहीं, तो श्रिकशंश बैसी ही तस्वीरें श्रापको मिलेगी। इस तरह युद्ध प्राण्यों का सबसे प्रिय खेल रहा है। उसके दबाव के तले कला-कौशल श्रीर ज्ञानिवज्ञान वेग से खिल उमरे हैं। जीवन मानो उस समय रस से श्रा भरता है। नसें फरफरा उठती हैं श्रीर मन उमंग की पैंगें ले उछुलता है। जिन्द्यी सूखी नहीं रह जाती, जैसे सार से भर श्राती है। मारने के उछुाह में श्रादमी श्रपनी जान हथेली पर ले खुद मीत में बढ़ चलता है। प्राण् हैने की कोशिश में प्राण् पर खेल जाना उसे श्रसल जीना लगता है।

युद्ध से यह सब होता है। इससे युद्ध को छोड़ना सहसा उसके वश की बात नहीं है। इतना उत्कृष्ट रस वह दूसरी किस चीज़ से पा सकता है ? इसलिए जान पड़ता है कि इम थोड़े-बहुत जो शांतिकाल में रहते हैं, सो इस दंग से कि उसके फल में युद्ध जल्दी अनिवार्य हो आये। युद्ध मानो घटना नहीं है, वह हेत हैं। इमारी जीवन-विधि का वह फलित फल है, मानो वह हमारी सिद्धि है। इसलिए शान्ति के सवाल को इस रूपमें देखना ठीक न होगा कि युद्ध से कैसे बचा जाय। युद्ध द्वारा आखिर कुछ तो हम चाहते हैं। उस आशा को एकदम शूर्य नहीं किया जा सकता। केयल अमाव तो

टिकता नहीं । इससे श्रामावात्मक होकर शान्ति कभी श्राने वाली नहीं है । वैसी तो कब्र को शान्ति है । उसके लिए चैतन्य को खांकर जड़ बनना धर्म हां जायगा । वह निष्क्रियता चाहती दीखेगी । वह शान्ति माना मांगेगी कि हम अपने को हस्व करें, नाना निष्धें से प्राश्-प्रवाह को जकड़ बाँधें । वह निरन्तरता की जगह स्थिरता चाहेगी श्रीर गति-मात्र, कर्म-मात्र, उसके लिए भीति के कारश होंगे ।

श्रादि-काल से शान्ति के साधक सन्त हमको मिलते श्राये हैं । इससे मतलब विश्व के सभी देशों का । श्रपने भारत को लें. तो वह बात श्रीर भी सच है। लेकिन उन महात्माओं ने ऋपनी जो शान्ति और मुक्ति साधी, तो क्या वह असल इष्ट वस्तु थी ! क्या समाज में व्याप्त युद्ध के प्रति उसमें हटात विमुखता न थी १ या समाज-मान्य युद्ध-नेता का सहारा भी न था १ युद्ध-जेता राजन्यों के प्रश्रय में रहकर क्या उन्होंने श्रपनी शांति को युद्ध का एक तरह प्रार्थी ह्योर शरणार्थी ही नहीं प्रमाणित किया ! किन्त श्रपने भारत में इस देखते हैं कि ऋषि-मनियों और सन्त-तपस्वियों की लम्बी परम्परा की प्रेरणा देनेवाले महापुरुप हुए शम श्रीर कृष्ण, जिन्होंने युद्ध लिया ही नहीं, यद किया। किया श्रीर जय साधी । राम श्रीर कृष्ण क्या राजा श्रीर योदा नहीं थे ! श्रीर पश्चिमके मसीह ईसा को क्या इसलिए सली देना जरूरी हुन्ना होगा कि वे नितान्त एवं एकान्त शान्ति-साधना में रहे ! फाँसी निश्चय ही उसकों लगेगी, जो चुप श्रीर निष्क्रिय न होगा, वरन् प्रवता श्रीर पराक्रमी होगा। योद्धा उसे होना ही चाहिए। महम्मद साहब, जिनका धर्म ही शान्ति कहलाया, क्या लड़ाइयों के लड़ने से सनिक आराम पा सके ! इसलिए शान्ति की वात सोचने योग्य है, तो इस कारण नहीं कि यद्ध से बचना है। बचानेवाली शान्ति तात्कालिक रूप से कायर की श्रीर ऋत्तिम रूप से शव की है। वह विचार की वस्त ही नहीं। घर-गिरस्ती बाँध-कर बैठनेवाला हर आदमी वैसी सुख-शान्ति की सेच अपने यहाँ सजाता श्रीर वहाँ भीग को प्रतिष्ठित करता है। इस शान्ति-भोग श्रीर उसकी

सुरत्ता के लिए जाने फिर क्या-कुछ नहीं हो सकता। मोटे पत्थर के किले की लंबी-चौड़ी प्राचं रें क्या इसीलिए नहीं उठायी जातीं कि श्रन्दर महलों की शान्ति श्रज्ञुएण रहे ! युद्ध इसी सुख़-शान्ति में से होते हैं।

हम सब उस श्रापनी सुख-शान्ति को पक्की दीवारों से श्रीर पक्के हिसाय स घरकर ऐसा सरचित बना लेना चाहते हैं कि कोई उसपर न अपट सके, न कोई साभ्ते को आ सके। इसीका करिश्मा है कि सब कहीं हाय-हाय श्रीर नोंच-खसोट मची हुई है। यही चाह समहों के नाम पर संगठित होकर खुल खेलती है, तो युद्धका रंग भर लाती है। ऋपनी छोटी-मोटी शान्तियों की चिन्ता श्रीर रचा ही वह बारूद है, जो इकट्टी होकर श्रीर चिंगारी पाकर त्रासमान को ऋपने स्पोट से रंगारंग श्रीर लाल कर उठती है। तब खूव-सरतियाँ जिल्ती हैं कि जिनको लेकर इतिहास के वर्क जगमग हा रहते हैं। यानी युद्ध से विमुख होकर श्रपनाई जानेवाली शान्ति खुद उस युद्घ के लिए ई धन है। इम नहीं लक्ते, यह कहने से लकाई कम नहीं होती, सिर्फ इस कम होते हैं, श्रीर हमारी लड़ाई का बोक्त दूसरे कन्धों पर जाकर स्थायी श्रीर पबका ही बनता है। ऐसे तनखादार सिपाही पैदा होता है जिसका पेशा लड़ना बनता है । श्रीर युद्ध सबसे ऐश्वर्यशाली उद्योग श्रीर व्यव-साय बनता है। फिर श्राधुनिक सेनापित कभी लड़ते सुना गया है ? वह उल्टे शान्त रहता है, जर्बाक सिपाही उसी की लड़ाई लड़ाते हैं । बल्कि श्रीर पीछे जाहए. तो घर में बैठा या सभा में बोलता युदध-सचिव श्रीर भी ब-ग्राराम श्रीर शान्त है। इसका मतलब है कि लडाई उसकी रचना है, इसीसे उसका लड़ना दूसरों पर है। पेशेवर सिपाही क्यों लड़ते हैं ? क्यों कि एवज़ में मिलने वाले वेतन-मत्ते से श्रपने चौथेपन में वे कुछ घर-वारी सख-शान्ति श्रपने लिए जुटा पाने की श्राशा रखते हैं। इस सबकी श्रपनी श्रपनी शान्तियों की चिन्ता ही युद्ध की सामग्री श्रीर श्रवसर वनती है।

इसलिए प्रश्न पर ऐसे विचार करना वेकार हो जाता है जैसे युद्धका अभाव शान्ति हो या दोनों परस्पर विरोधी हों। ऐसे एकान्ती और सिद्धान्ती विचार से दुनिया युद्ध के लिए खुला खेत हो रहती है, जिससे सिर्फ शान्तिवादी किनारा खींचने की अपने लिए छट्टी पा जाते हैं। लेकिन येदानीं स्रतें सही जिन्दगी की नहीं हैं। शान्ति यदि इष्ट है, तो सबकी ग्रीर सबके बीच होकर इए है। अन्यथा वह छलना है। इससे प्रश्न यह होता है कि इम जो मारकाट के जरिये पाना छोर बचाना सोचते हैं, क्या उस पाने श्रीर बचाने की पद्धति कुछ दसरी भी हो सकती है ? क्या श्रहिंसा का उपाय भी कुछ हो सकता है ? हर वस्तरिथतिमें किंचित श्रम्याय श्रीर असरय गर्भित है। उसीके निराकरण के ग्रर्थ जीवन है ग्रीर जीवन में गर्ति-बोध है। काल, जिसका लक्षण परिणमन है, नहीं तो फिर होता ही क्यों ? उस गर्भित श्रमत्य थ्रार श्रन्याय पर स्ककर, उसे यथावत श्रपने में स्वी-कार करके. तो जीवनका श्रीर कालका प्रवाह सार्थक हो नहीं सकता । उस श्रन्याय श्रोर श्रमत्यको इसलिए उभारते श्रीर उखाइते ही चलना होता है। इसीसे है कि चैतन्य का प्रतीकपुरुष विद्रोही दीखता श्रीर शाहीद बनता है, दसरा कुछ हो नहीं सकता। उसके द्वारा परिस्थिति पर जो चैतन्य श्रवतरित होता है, वह रिथित में जड़ जमाये स्वार्थों को विचलित श्रीर जुन्ध कर उठता है। विकास इस तरह स्थिति ग्रीर गति के परस्पर प्रतिवात श्रीर प्रत्यावर्त्तन द्वारा ही सम्पन्न होता है। साफ ही युद्ध इसमें एक अनिवार्य प्रक्रिया है। वर्त्तमान यदि अतीत की पीठ ही है, ता भविष्य को उसपर ऋादातके रूपमें ही पढ़ना होगा । ऋत्यथा वर्त्तमान मनिष्य का श्राबाहन भी हो संकता है। वर्तमान पर बन्धन श्रीर श्रवरोध बननेवाले श्रतीत से जिंदत तत्व भविष्य के श्रवतरमा की ग्राघात मानकर उसे प्रत्याघात पूर्वक ही लेनेको लाचार होंगे। यां संघर्य में से प्रगति सधेगी। हुँ त में से ही अद्वेत यात्रा को बढते चलना होगा ।

शब्द श्रद्धेत ऊपर आ गया है। यह शब्द श्रद्धा का है। इसिलए माण में उसे कम खाना चाहिए। लेकिन संहारमें ही ख्रगर जीवन के अर्थ छौर इति को नहीं देख लेना है, यदि उसमें से खागे किसी अर्थ अथवा इए की निष्पत्ति पाना है, तो श्रद्धा को उतना श्रसंगत नहीं मान लेना होगा।श्रीर शान्ति का प्रश्न श्रद्धा का प्रश्न है, वह ऐक्य की निष्टा का प्रश्न है। जो श्रपने लिए निज की शान्ति रच वैठना चाहता है, वह काल के प्रवाह में श्रद्धन बनता है। वह मरने से बचना श्रीर श्रारामां से जीना चाहता है। इन सब कारणों से वह महाकाल का श्राखेट बनता है। इरते-रोते उसे जीना श्रीर वैसे ही मरना होता है। ऐसा ही व्यक्ति है, जो श्रपने चारों श्रोर पदार्थ जोड़ता श्रीर उसकी श्रोट में मानो गितसे श्रीर नियित से बचने की श्रिक्त में चतुर स्वार्थ की स्थापना करता है। काल-गित दाहती-घड़धड़ाती हुई उसकी छाती पर से जब चलती है, तो उसे लगता है, जैसे शान्ति का श्रीर धमं का श्रपलाप हो रहा है। पर वह श्रप्रतीति है। कारण, शान्ति का धर्म हिंसा के श्रधमें से मोर्चा तेता हुआ ही चलने को बाध्य है। उससे किनारा काट चलनेवाली शान्ति क्योंकि प्रशंचना है, इससे बजारम्म में सबसे पहले वही स्वाहा होती है।

शायद ऊपर कृतरनाक मापा त्रा गई। पर खतरे से बचकर सत्य की तरफ चलना कैसे होगा ? 'शान्ति के लिए' नहीं, 'शान्ति के द्वारा' हमें जीना है। साध्य को साधन में गर्मित और तसम रहना होगा। फिर उस संकल्प का आदमी सुरचा कभी खोजेगा ही नहीं। उसे मृत्युसे बचना नहीं है। उसे किसीसे, कुळुसे, बचना नहीं है। उसे सबसे तदाकार होना है। उसे सर्वास्य से तादातम्य पाना है। इस्तिए जहाँ युद्ध है, वहाँ भी वह है, यद्यपि आहिंसक होकर है। युद्धसे अलग होनेवाली शान्ति हिंसाके लिए जबिक हैं धन है, तब युद्ध के समच रहनेवाली आहिंसक कर्मपरायण शान्ति उस हिंसाके लिए भयावह ललकार है। ऐसा शान्ति से बचने का प्रश्न स्वयं युद्ध के लिए उपस्थित होता है, युद्ध से बचने का प्रश्न उस शान्ति के लिए नहीं उठता। यही नहीं, बल्कि शान्ति का तो सतत प्रश्न है कि युद्ध कहाँ है, कि जहाँ हो वहीं वह पहुँचे और कहे—'भाई, तुम जानते हो, सुम्हारी वीरता सिर्फ कायरता है। तुम्हारी शस्त्रास्त्र का भन्न मुक्ते कैसे हो

सकता है ! बिल्क उस कारण तुम पर दया होती है ! तुम पर संहार सवार है, तो लो, यह मैं हूँ । मुक्त पर महार कर शायद तुम पहचामों कि मैं दुश्मन नहीं हूँ, बिल्क वह हूँ, जिसके लिए तुम मटक रहे हो ।' ऐसी जो शान्ति है, वह संसार के सर्वश्रेष्ठ योद्धा से श्रलग कही रह नहीं सकती । वह योजना की वस्तु नहीं, साधनाकी वस्तु है । इसीसे श्राजकी शान्ति-योजनाएं युद्ध-योजकों की नक्शेवन्दी का माग बनी देखी जाती हैं । योजना में शान्ति नहीं है, जैसे कि फार्मू ला में श्राग नहीं है । सूरज होकर ही कोई धूप दे सकता है श्रोर शान्त होकर ही कोई शान्ति बढ़ा सकता है । श्रर्थात् जमाव-जुटावसे, संख्या-गणनासे, तंत्र से श्रीर यंत्र से उसका सम्बन्ध नहीं है । उसका सम्बन्ध श्रात्म श्रारम-संस्कार से है ।

ऊपर तत्त्वकी बात श्रा गई। उसे ही व्यवहारमें उतारकर देख लेना है। उदाहरण के लिए हालका विश्व-युद्ध लें। सब जानते हैं, उससे पहले की वर्साई की सन्धि के नीचे शुद्ध न्याय नहीं था, शक्ति-त्याय था। शुद्ध न्याय प्रेम का नियम पालता है। प्रेम का नियम है कि असमर्थ की वस्तु-जगत की ऋषिक सुविधा चाहिए। समर्ग झोड़ सकता है, इसलिए शांक-मान अशक्त को अधिक देगा और स्वयं कम लेने को तैयार होगा। अंतमें तो उसे निरीह निपट हो रहना है । यह है सिद्धान्त प्रेम का, धर्म का, यश का, कास का । पर वर्साई-सन्धि ने पराजित जमैनी के द्वांग-मंग को न्याय माना, श्रपमान को उसका पुरस्कार बनाया। जर्मनी क्या उस राष्ट्रीय ग्रहं-भावना का ही नाम न था, जो अमुक प्रदेश और अमुक-संख्यक लोगों की परएमर मिलाए श्रीर उठाये रखे हुए थी ! उसको इतार्थता की श्रीर न से जाकर दूसरे विशिष्ट राष्ट्रीय ऋहंकारीं के खुटाव के ज़ोर से तोड़में और तिरस्कृत . करनेकी कोशिश क्या मानवीय न्याय हो एकती श्री ? तो उसका परिशास ही न्याय कैसे श्राता र कुछ ही वर्षों में हिटलर में मूर्च होकर क्या वह राष्ट्र-चेतना, उद्बुद्ध और उद्धत, यूरोप के लिए युनीती नहीं वन उडी ! वर्षाई वह समय था कि जब इम राष्ट्रीय झस्मिताओं का विप इर तकते और राष्ट्र-

भावना को संस्कार दे सकते थे। पर श्रहंकार ने ग्रहंकार को चोट दी, तो परिणाम में उत्कृद्ध श्रहंकार को जन्म लेना ही था। तिरस्कार में से श्रहंकार छोड़ श्रीर क्या फलने वाला है ?

वर्साई का उदाहरण फिर दोहराया जा रहा है। एक थार फिर शस्त्रों की बहुलता ख्रीर प्रबलता के हाथ जय आई है। जय में से न्याय-निर्णय का श्रिषकार श्राया है। जय शस्त्र की है, तो निश्चय न्याय को भी शस्त्र में ही होना होगा। हम देख चुके हैं, ख्रीर द्यागेके लिए भी ध्यान रखें, िक शिक्त का न्याय वह नहीं है जो समाधान ला सकेगा। वह दानवी न्याय है, यानी वह अन्याय का बीज वोकर अगली पीढ़ीके नाम युद्ध की पासल काटने का काम दे जाता है। ठीक है, युद्ध को तो होना होगा। अन्याय मानवताकी आत्मामें बिना घड़के बैठ नहीं सकता। उस विकार को फटना और मिटना होगा। युद्ध विकार का विस्फोट है। पर विकार पके छीर फूटे, तो फिर अपने बीज मनुष्यता के अंतरंग में और गहरे डाल जाय—क्या चिरकाल तक यही होता रहेगा? क्या संस्कार आगे आकर विकार से मोर्चा न लेगा? क्या हिंसाओं में ही युद्ध होगा? क्या एक भी पन्न कभी मारने से इन्कार करके मरने की प्रतिका लेकर आगे न बढ़ेगा कि युद्ध की ही अन्त्येष्ठ हो ?

एक स्रादमी हमारे बीच होकर गया है। महातमा नहीं कहता, स्रवतार नहीं कहता, मैं उसे स्रादमी कहता हूँ। वह स्रादमी के सिवा स्रोर उससे ज़्यादे कुछ न था। उसने प्रकृति से बदला नहीं निकाला कि सुमें नुकीली दाइ, नाखून स्रोर पंजे क्यों नहीं दिये १ शरीर का बैसा बल क्यों नहीं दिया १ नहीं, उसने श्रपने इन्सान होने को विनम्र स्रोर इतक भाव से स्वीकार किया। सींगों, पंजों स्रोर दाढ़ों की जगह काम देनेको उसने तरह-तरह के हथियार गढ़ने में पुरुषार्थ नहीं माना। उसने जानवर से बराबरी नहीं टानी। उसने माना कि जानवरसे कम हूँ, इसीसे मैं इन्सान हूँ। इस कमी में ही मेरी मलाई है। इन्साम में जिस्म कम है कि जिससे दिल ज्यादे हो

सके । श्रीर दिमाग भी उसे ज्यादे हैं । उस ज्यादा दिमाग से क्या वह जानवर से जिस्स की ताकत में कम नहीं, ज्यादा होना चाहता है ? श्ररे, यह खुद जानवरपन है, जो दिमाग को उस काम में लगाता है । यह जो इन्सान को दिल मिला है, दिमाग क्या उस नेमत को नहीं समभेगा, नहीं सँवारेगा ? इस तरह उस श्रादमीने श्रपने दिमाग को, उसकी रत्ती-रत्ती शिक्त को, श्रपने या दूसरे की दिरंदगी को नहीं, इन्सानियतको बढ़ाने में लगाया।

वह श्रादमी श्रव उठ गया है। जीया तव कभी पल-भर वह शान्ति से न रह पाया। कौन श्राफत थी जो उसके सिर न ट्रटी। एक हंगामा चारों तरफ रहा ख्रौर उसके बीच वह चला किया। बड़े-बड़े उसने भोचें लिये श्रोर लडाइयाँ लडीं। श्राराम की एक सांस उसके भाग न श्रायी। कर्म-लेख ही उसका ऐसा रहा। क्या-कुछ उसके पास न पहुँचा !' सब विभूति, जो दुनिया चाहती है, उसके हर्द-गिर्द घुमती रही। पर उसने एक कनपर भी हाथ नहीं डाला, मुट्डी नहीं बाँधी। कुछ अपने तई वह न ले सका। चार हाथ कपड़े से आगे उसे यहाँ जरूरत न हुई। खाने को स।ग-पात श्रीर रहने को बाँस-फ्रॅंसकी भोंपड़ी उसे नेमत बनी। यह श्रादमी शान्ति के एकान्त में नहीं गया। युद्ध के घमासान की तरफ ही उसके कदम रहे। या कहो, जहां पहुँचा, वहाँ उसके साथ ऋाँधी पहुँची। देहात श्राया, तो वहाँ भी राजों श्रीर राजधानियों की राजनीति अत्पट लपकी। लेकिन जैसे राज के श्रीर युद्धके जोड़-तोड़ श्रीर दाँव-पेंच उसके पास विनती. करते श्राये श्रीर उसने उन्हें पुचकार कर लिया। शान्तिकी उसने कहीं भी बाहर नहीं खोजा। सुबह-शामकी प्रार्थना के सहारे वह उसे अपने श्रन्दर सँजोए रहा। फिर युद्ध उसका कर्म था. क्योंकि शांति उसका धर्म था। इस धर्म-युद्ध में मुसकराहट उसकी ललकार बनी ग्रीर प्रेम उसका ग्रास्त्र । शत्र इसमें मित्र हुन्ना श्रीर सगा उसे शत्र ।

यह श्रादमी निपट श्रादमी के हंग से श्रमी हाल हमारे बीच जी गया

है। एकदम श्रादमीका था, इससे वह ढंग हमें समफ नहीं श्राया। वहुत श्रनोखा वह हमें लगा श्रीर कभी तो श्रचरज हुत्रा कि यह देवदत तो नहीं है। लेकिन कुछको दानय भी उसमें दीख आया।शायद अपने हिले खार्थ के जोभ में से उन्होंने उसे देखा हो। वह, जो हो, ऋपने सीनेपर हमारी गोली खाकर हमें हाथ जोड़ता, मानो हमसे चमा माँगता, अपनी विदा ले गया है। श्रव वह श्रांख से श्रोक्तल है श्रीर उसके भारत में खराज है। स्वराज में उस ब्रादमी के ही कुछ साथी सरकार बनाकर बैठे हैं। वे उसीकी गह चलना चाहते हैं। उसकी वह चली-चलाई गह तो बिछी दीखती है, पर आगो उसे बताने के लिए वह खुद पास नहीं है। ऐसे वे साथी वड़ी उलमान में हैं। तरह-तरहके दुश्मनों से घिरकर वे फीजें बढ़ा रहे हैं, पकड़-धकड़ कर रहे हैं, कारखाने बिठा रहे हैं स्त्रीर इस तरह हिन्दुस्तान को सुरिच्त, लैस श्रीर मालामाल बनानेकी कोशिश में लगे हुए हैं। वह श्रादमी उघाहे बदन, पाँव-पाँव चलता था। श्रपनी श्रद्धा में उसे जल्दी न थी। लेकिन जमाना जाने कैसा है ! इसलिए उससे सीखे साथियों की हवाकी गति से श्रौर विद्युत्के वेगसे चलना हो रहा है। कारण, पश्चिम श्रागे है श्रीर पूर्व को पश्चिम के बराबर होना है !

श्रीर इधर पश्चिमी गोलाद में संयुक्त राष्ट्रसंघ की वैठकें चलती हैं, जो सरगर्म होती हैं। वाद-प्रतिवाद ही नहीं, शस्त्रास्त्र का उत्पादन भी तत्परता से हो रहा है। जर्मनी, जिसने सिर उठाया था, बिछा पड़ा है श्रीर मालूम होता है कि मित्र लोगों में, शत्रु के खत्म होते ही, श्रापसी मित्रताकी जरूरत भी खत्म हो गई है। बल्कि बीच से शत्रु ता उठकर दोनों मित्रीं को श्रापनी तरफ ललचा रही है। शत्रु मिटा, पर उसके कारण जैसे श्रीर नवेली बनी शत्रु ता श्रॅगड़ाई लेकर दोनों को मोह रही है।

ऐसे में वह श्रादमी याद खाता है, जो इस पूर्णता श्रीर श्रिकिंचनता से जीया कि इमारे शब्दोंकी दुई उसकी सचाई वेर नहीं पाती। वह सौ-फी-सदी युद्ध का श्रादमी था, जैसे कि सौ-ही-फी-सदी वह शान्ति का श्रादमी था। सच यह कि वह सौ-फी-सदी ब्रादमी था। इसलिए इस या उसमें कम-अधिक वँटकर वह नहीं हो सकता था। जिसका था, पूरा-का-पूरा था, श्रोर अवरज कि वह सबका था। अनेकता यहाँ वस्तुत्रों, विधानों श्रोर विवादों की है। धारणाएँ श्रोर कामनाएँ अनेक हैं; पर वह अखंड एक था—इससे निर्धारण श्रोर निष्काम था। लौकिक विविधताश्रों में एक-सा व्याप्त या विमुक्त था। शायद वह केवल चिन्मय था। ऐसे को दल-मत श्रापरा में कैसे बाँटकर वैटें ? लेकिन भला है कि अब बाहर वह कही नहीं है श्रोर इम लाचार हैं कि उसे अपने भीतर से ही पार्ये। वहाँ के सिवा उसे कही देखा, रखा श्रीर पाया नहीं जा सकता। ग्रंथों में नहीं, म्यूजियममें नहीं, समाजों-संधोंमें नहीं। शायद अपने श्रंतर में ही उसे जगा कर इम श्रासन्न युद्ध को श्रवमन्न श्रीर शान्त करने की राह वृक्त श्रीर बना-बता सकते हैं।



## युद्ध की जगह शांति का उद्योग

हाल का वह शाँति-सम्मेलन, जिसकी पहली बैटक शाँतिनिकेतन में और दूसरी सेवाग्राम में हुई, गांधी जी के अभाव में उनके सिर्फ विद्वांत श्रीर सहयोगियों को बीच में लेकर शांति पर चर्ची-विचार कर सका। बाहर से उसमें शामिल होनेवालों में चौतीस देशों के तिरेसठ ऐसे लोग थे जिनकी निष्ठा उस तरह के काम में परखी हुई बताई जाती है। सम्मिलित सभी की श्राहंशा में आस्था थी।

उसके श्रासपास के दिनों में दूसरी तरह की भी शाँति-परिपर्दे हुई। उनमें शायद संस्था के बल पर भी ध्यान था श्रीर उनका रूप-रंग भी दूसरा था। मालूम हुआ कि उनमें शामिल होने के लिए बहुतेरों को उन देशों की सरकारों ने सुविधा नहीं होने दी। श्रानुमानतः वे परिपर्दे श्राजनीतिक न होंगी।

शाँति का सवाल इस तरह सभी के मन को मथ रहा है। कुछ उसकी लेकर दौड़-धूप श्रीर संगठन में लगे हैं, दूसरे श्रात्मितरीक्षण श्रीर विश्लेक्षण में। पर शांति के इन सब प्रयत्नों के साथ सर्वसामान्य में एक शंका बनी ही रहती है। वह यह कि या तो उनके पीछे दायाँ पत्त है, जिसमें रूस श्रीर उसके प्रभाव के देशों का योग नहीं हैं; या सिर्फ बायाँ है, जिसमें श्रमरीका श्रीर ब्रिटेन नहीं है।

यह दुर्भाग्य हो, पर तथ्य है। मानव जाति एक है और दुनिया एक है, यह सबको मान्य होने पर भी सच यह है कि मानव की वह जाति और उसका वह जगत् राष्ट्र नाम की इकाइयों में और तद्गत् राष्ट्र-वादों में बटा-कटा चल रहा है। मानव चेतना के पास दूसरी कोई निष्टा नहीं है, जो इस राष्ट्र-राग को ऋंदुश में रखे। यों दो मतबाद हैं, साम्यवाद श्रोर लोकतन्त्रवाद। पर ये भी राष्ट्र-एकाँत (नेशनल सॉवरेंटी) को मान श्रीर उमार कर चलते हैं, उससे समर्थ श्रीर उत्तीर्ण वे नहीं हैं।

शांति के लिए यही सबसे बड़ी और जड़ की बाधा है।

गांधीजी में दुनिया को तो भी ढाँदस था। वह एक समूचे राष्ट्र के नेता थे, पर उस राष्ट्र से सीमित न थे। यानी आज जबकि दुनिया इतनी छोटी बन गयी है कि अन्तर्राष्ट्रीय होकर ही हमारा काम-काज चल सकता है तब किसी भी पूरे राष्ट्र का वल जिसकी कृति में नहीं है, ऐसा व्यक्ति या ऐसी नीति, क्या शाँति या क्या युद्ध, किसी में कुछ कर-घर नहीं सकते। गाँधीजी (इसीसे भारत-राष्ट्र को लाँघकर ऋन्तरीं ष्ट्रीय चेत्र में नहीं उतरे। वह जानते थे कि काम-काज के दोत्र में केवल तरव-विचार की श्रोर से किसी नई नीति का प्रयोग श्रारम्म नहीं होनेवाला है। इसलिए वह तत्त्वदर्शन या विचार-विवेचन का प्रश्न नहीं है। प्रश्न ग्राधिक विनष्ट ग्रीर समग्र है; वह श्चन्तर्राष्ट्रीय है। इसलिए उसके घटक किसी एक राष्ट्र को श्चारम-प्रयोग से श्रारम्भ करना श्रीर उस नीति का प्रवर्त्तक बनना होगा । उनकी श्रद्धा थी कि वह भाग भारत का है। सर्वाश में अखंड सत्य के होने पर भी (बल्कि, ही ) मानी पूरी तरह वह खंड-राष्ट्र के बनकर रहे। जब भी श्रवसर श्राया, उन्होंने यही कहा कि भारत दारा ही उनका काम सब दुनियां को पहुँच जानेवाला है। यही हिं थी जिससे राष्ट्रीय कांग्रेस, श्रीर उसके बाद राष्ट्रीय सरकार, से मेद रखकर भी उन्होंने अपना अभेद बनाये रक्खा ।

शांति कौन नहीं चाहता है ! जो युद्ध ठानते हैं, वे स्वयं कव शांति नहीं चाहते ! बल्कि वे तो प्रत्यच्च श्राचुभव करते हैं कि राष्ट्र-नायक होने के नाते उन पर शांति-रह्या का दायित श्राधिक है । उस दायित्व-पूर्ति में ही उन्हें युद्ध स्वीकारना श्रीर टानना पड़ना है । जहाँ तक उनकी इस मान्यता की बात है, उन्हें गलत नहीं ठहराया जा सकता ।

इसलिए शांतिवादी को यह चुनौती है कि वह शांति की नीति को कहीं किसी इकाई पर, किसी मानव-समुदाय पर लागू करके बतावे । शांति से युद्ध को हराना है तो किसी देश की समूची नीति को, विदेश-नीति को भी, शांतिवाद पर ढालकर और चलाकर दिखाये। ऐसा नहीं होता तयतक लोग क्यों न कहें कि शांतिवादी स्वप्नवादी हैं, ग्रादर्शवादी हैं। व्यवहार-जगत् के नहीं, वे तो विचार-विहारी अल्पसन्तोधी लोग हैं। उनके कन्धां पर जिम्मेदारी जो नहीं है, इसलिए वे कल्पना में और आदर्श में ऊँचे ठहर सकते हैं। पर बोम्भवाला अपनी जानता है और चलना-चलाना उसका काम है।

इस पद्धति से शान्ति की बात शत्य हो जाती है। वह अनसुनी कर दी जातो है और लड़ाई की तैयारियाँ ज्यों-की-त्यों अनिवार्य बनी रहकर लाक-मानस को बेरती चली जाती हैं।

यह सवाल नहीं, चुनौती है। इसका उत्तर स्वयं उत्तर बनकर ही दिया जा सकता है। चुनोती शांतिवादी के लिए न भी हो, श्राहें साबादी के लिए है। क्योंकि शांति वादी शांत रहकर जी जाय श्रोर मर जाय, इतने में शायद साथक हो सकता हो। लेकिन श्राहेंसा की सार्थकता कोरी शांति में नहीं है। बाहर जग की हिंता से जिसकी श्रात्मा भीतर चोट न खाय, वह श्राहेंसक कैसा? श्रातः प्रतीकार श्राहेंसक का धर्म है। श्राप्ते पर श्रातामकों न सहना श्रात्म का धर्म है। गांधी की शांति श्रीर गांधी की श्राहेंसा की यही विलच्चाता है। श्रायीत हिंसा श्रीर श्रशांति सदा गांधी को श्रार स्वींचती रही है; क्योंकि श्राहेंसा बन्द होकर न बैठ सकती है, न बैठा रहने दे सकती है। कारुएय क्या कहीं समाया रह सका है ? उसे तो बाहर सब कहीं पहुँचे श्रीर रमे बिना चैन ही नहीं है।

श्रहिंसा की चर्चा तो बहुत है। निश्चय उसमें श्रहिंसा की हानि है।

त कं के तार फैलाकर श्रहिंसा को उसमें ऐसे उलभा दिया जा सकता है कि वह निप्पाया हो जाय। जो स्वयं शिक्त है वह इस तरह जड़ बना दी जा सकती है। पर उन सब के लिए जो या तो पुरातन परम्परा की अदा में श्रपने को जैन श्रीर दैप्याव कहकर श्रहिंसावादी गिनते हैं, या श्राधुनिक गांधी-अनुगामी होकर श्रहिंसा-धर्मी वन गये हैं, स्वाल है कि श्रीर सब कहीं हथियारों की तैयारी देखते हुए श्रीर सभी को द्वेप श्रीर दुरमनी की राह पर कटिबद्ध जानते हुए भी क्या वे श्रपने इस मारत देश को, एक श्रकेले, श्रहिंसा की नीति पर चलने को कह सकते या चला-कर दिला सकते हैं ? श्रार नहीं तो क्यों न कहा जाय कि श्रहिंसा व्यक्ति-धर्म ही है, जगत्-धर्म होने की उसमें खमता नहीं है।

मेरा मानना है कि शांति की सीमा यहां आती है और शांति पर आयोप भी इसी जगह आता है। मारत के भीतर शाँति सबकी समक्त में आ जायेगी; पर वहाँ सीमा पर कि जहाँ से क्रिश शुरू हो जाता है, और शायद जहाँ से दुश्मनी शुरू हो जातीं है, वहाँ पर भी क्या शाँति का ही धर्म लागू होगा ? वहाँ यदि शांति का धर्म नहीं चल सकता तो निश्चय रखना होगा कि अन्दर-अन्दर की शान्ति केवल बाहर की लड़ाई की सहायक ही बन रहने वाली है।

युद्ध यदि तस्व-चर्चा का विषय नहीं है तो शान्ति को भी उसी सरह का विगय बनकर नहीं रहना है। दोनों उससे श्रिधक दुर्क हैं। युद्ध एक महान् उद्योग है! संसारव्यापी उद्योग एक वही है। जाने-अनजाने हम उसके यंत्र श्रीर अवयव बने हुए हैं। युद्ध किसी खास हिस्से में किसी खास अरसे तक चिनगारियाँ दैकर फूटता दीखता है तो उसको हम वहीं तक सीमित न मान बैठें। जो चीज लहू के लाल रंगों में वहाँ फूटती. दीखती हैं, उसको तिल-तिलकर बनाते और जमा करते तो हम कह-जाने-वाले शांति-के-काल में हैं।

शान्ति कैसे हो सकती है, जबतक कि युद्ध से बढ़ा उद्योग बनकर

चह न उभर सके ! करोड़ों व्यक्तियों को लाखों तरह का काम युद्ध देता है । हमारी समस्त श्रीर सतत किया उस लक्ष्म को एकाप्र रखकर चलती हैं । शाँति को श्रागर श्राना है तो हमारी समस्त श्रीर सतत किया का उसे श्वास बनना होगा । उस शान्ति को करोड़ों-करोड़ को नित्यप्रति का रचनात्मक धंधा देना होगा । उसी का प्रयोगात्मक रूप गांधी जी का रचनात्मक कार्य-कम है । पर ध्यान रहे, रूप में शांति नहीं है । श्रगर कहीं किसी श्रोर से भी श्रात्मा की श्रद्धा न्यून होकर पदार्थ की निर्मरता प्रवेश कर जाय तो रूप वही रहकर भी श्रशान्ति ला सकता है ।

श्रन्त की श्रोर कर्म से श्रिधिक अद्धामाव पर गांधी जी का बल हो गया था। पिछे तो राम नाम ही एक टेक रह गया। श्रीर वह सही था। क्योंकि अद्धा बिना किया-धरा सब जंजाल हो जाता है; बन्धन काटता नहीं, वह बन्धन सिरजने लगता है। अद्धा से जो चलता है, वह पदार्थ पर श्रीर पदार्थ से नहीं स्कता। उसकी गति श्रमोध होती है। इसलिए धन से श्रीर सत्ता से, या उन दोनों की दृष्टि श्रीर श्रयलंबन से, निकला श्रीर बना हुश्रा काम मुक्ति की जगह बंधन लानेवाला हो जायगा। यही स्थल है, जहाँ श्रात्मश्रद्धा, श्रीर श्रमात्म-मोह की कसीटी हो जानी चाहिए।

श्राज की श्रवस्था जन श्रीर धन की खींच श्रीर उलफन के फारण संकटमय बन गई है। जन श्रसंख्य हैं श्रीर यों प्रकृति की श्रोर से धन भी उसी तरह श्रट्ट श्रीर अतील है। पर विनिमय श्रीर व्यवस्था के लिए मुद्रा का प्रचलन हमने किया है, उससे गड़बड़ पड़ी है। श्रादमी में श्रम तो है, पर धन को कहीं से चलकर पास श्राना होता है। परिणाम यह कि श्रम में धन की श्रपेचा हो गई है, श्रीर धन में उस कारण श्रम के प्रति उपेचा। नतीजा देखते हैं कि सिक्का जब कि स्वयं मूल्य है, तब श्रम मूल्यहीन है श्रीर सिक्के द्वारा उसे मल्य दिया जाता है। श्रावश्यक है कि ऐसी श्रवस्था में लोम श्रीर यत्न सिक्के के प्रति हो श्रीर मानव के

लिए वह रोप न बचे। मैं मानता हूँ कि हिंसा की श्रानिवार्यता इसी जगह पैदा हो जानी है श्रोर युद्ध की भी जन्म-भूमि यही है।

त्राज क्या हम अनुभव नहीं करते कि सारी ताकत का स्त्रोत वह है, जिसे हम सरकार कहते हैं ? शास्त्र बताता है कि सरकार के पास उतनी ही ताकत पहुँचती है जितनी जनता देती है; लेकिन वह बात शास्त्रीय है । यानी जनता, उसके जन-जन, अपने में वह ताकत विल्कुल अनुभव नहीं करते । सिर्फ वही जन सामर्थ्य का अनुभव और भोग करते हैं जो सरकार बने हुए हैं । शेप, यानी प्रजाजन, सरकारी जनों से सदा ही अधिकार की, अनुमित की, कृपा की आशा और भिन्ना करते रहते हैं ! यह रिपति आज मानों हद तक पहुँची हुई है । टोटेलिटेरियन जो नहीं भी है, वह भी स्टेट मानों किसी अन्तर्गत लाचारी से उसी सर्वसत्तात्मकता की ओर बढ़ी चली जा रही है !

इसका त्राण सिक्के के अवमूल्यन के सिवा मुक्ते तो अौर कहीं नहीं दीखता। अवमूल्यन ऐसा नहीं कि जैसा हाल में डालर की अपेका में स्टिलिंग और रुपये का हो गया है। नहीं, अवमूल्यन खुद सिक्के का हो, और यह अम की अगेका में। यानी मूल्य अम का इतना वद जाय कि सिक्के का वह लगभग रह ही न जाय। यानी अम की कदर हो, मुद्रा की बेकदरी।

जब तक मूल्यों में यह क्रांति नहीं होती, ऋहिंसा हिंसा से बाजी नहीं ले सकती । जब तक श्रीसत श्रादमी लाचार है कि वह धन के लिए अम करे, या धन उसके श्रम-फल को उठा ले जाय, तब तक श्रम पीछे श्रीर धन श्रागे रहेगा ही । यानी तब तक परिमागा का महत्व होगा, गुण की श्रापगणना होगी; वस्तु की पूजा श्रीर व्यक्ति की श्रवशा होगी; चातुर्य चलेगा श्रीर सहानुभूनि भूखी रहेगी; उत्सर्ग मूर्खता सममा जायगा श्रीर उपार्जन कुरालता का प्रमाण होगा—तव तक जिन्दगी हमारी श्रींधी रहेंगी श्रीर शान्ति युद्ध की सामग्री बनने के लिए रची जाया करेगी। मेरा मानना है कि गांधीजी हमको उसी तरफ लिए जा रहे थे। उत्पादन का और शासन का विकेन्द्रीकरण वह उसी निमित्त से चाहते थे। चहुँ श्रोर, दूर-दूर फैली धरती में पसीने के रूप में पड़ी हुई श्रसंख्यों की अम-साधना सिक्के के जादू से जो गिनती के कुछ शहरों में चुसी श्रीर खिची चली श्राती है, यह दृश्य उन्हें मानवता का पातक जान पड़ता था। सिक्के का वह जादू हमारे सिर चढ़ा था और चढ़ा है। जरा समभ श्राते ही हमारी श्रांख मुद्रा में बस जाती है श्रीर अम से जी हटने लगता है। यह तो इपा है कि यह समभदारी सब तक नहीं पहुँच पाती श्रीर अमिक अम में श्रपने को सार्थक करते ही चले जाते हैं। लेकिन मानों कुछ ने प्रण किया है कि वे सबको 'सद्शान' पहुँचाकर ही रहेंगे, यानी मानव-चिंता को श्रार्थिक श्रीर श्रांकिक बनाकर ही छोड़ेंगे। मार्क्स को श्रादि लेकर कम्यू-निज्म ने यह बीड़ा उठाया दीखता है। उसके इस श्र्यं ने, मानव-जाति की मापा में कहें, तो बड़ा श्रमर्थ किया है। क्योंकि जिसका मूल्य दहना है, उसी में नये सिरे से मूल्य ढाल दिया है। अमिक की मापा अम की न रहकर श्रर्थ की बन गई है श्रीर श्रादमी को श्रसहाय करके स्टेट को सर्व-सहाय बनाया जा रहा है!

शान्ति की समस्या उत्पादन के वढ़ जाने से या सम्पत्ति के निर्वेद्यांक्तक हो जाने से, या विनिमय श्रीर वितरण के द्रुत श्रीर निर्यामत कर दिये जाने से उतनी सीधी-संलग्न नहीं है। कारण, इस श्रोर से मनुष्य में श्रातम-निर्मरता श्रीर श्रातम-गीरन का भान नहीं जरानेवाला है। वह तो उपाय मुख्यता से इसमें है कि मानव-चेतना का भार-केन्द्र धन से श्रम की श्रोर बढ़े श्रीर कमश: श्रवस्था वह श्राये कि श्रम ही एक धन हो जाय श्रीर उससे पृथक मूल्य का कहीं श्राधिष्ठान ही न रहे।

इस दिशा में समभा-बूभकर चेष्टा हो, और सब देशों की उदासीनता पर भी एक भारत देश की राष्ट्रनीति उधर चले तो मेरी प्रतीति है कि श्रन्तर्राष्ट्रीय दवाव उत्तपर कम होना श्रारम्भ हो जायगा श्रीर विश्व-संकट भी कुछ दीला होगा।

त्राज तो भारत के पूरव श्रीर पश्चिम, दोनों तरफ, पा कस्तान है जिस के साथ सम्बन्ध मीठे नहीं हैं। परिणामतः देश की सारी इकानामी (श्रर्थनीति) उस दुश्चिन्ता के श्रधीन चलने को लाचार है। सेना श्रीर सैनिक का महत्व ऊँचा रखना होता है; सरकारी श्राय का बड़ा भारी भाग उसमें जाता है; अम की सार्थकता जैसे श्रमिक के पास न होकर सैनिक के पास हो जाती है, जिसका सीधा काम बनाना या उगाना न होकर बिगाइना श्रीर नष्ट करना है। सारी दृष्टि को हमें तदनुकूल बनाना पड़ता है श्रीर उत्पादन से श्रधिक व्यय की महिमा बढ़ती है! सैनिक से सेवा लेने श्रीर जरूरत पर उसकी जान लेने के लिए दूसरी दिशाश्रों में उसे मोग की सुविधा देनी होती, बल्कि भोग की श्रादत उसमें डालनी होती है। ऐसे जान-श्रमकर संस्कारिता से उल्लग्न यानी बर्बरता का कम चलाना होता है।

क्यों ! क्योंकि अपना तर्क दूसरे के व्यवहार से लेने की भूल से हम आरम्म करते हैं। कोई हमें दुश्मन मानता है तब हमारे लिए भी दुश्मनी ही एक तीति रह जाती है, ऐसा हम मान लेते हैं। गाँधीजी ने कहा कि ठीक इसी जगह अपनी गलती हमें पकड़ लेनी चाहिए श्रीर साहसपूर्वक दूसरी नीति का प्रयोग कर चलना चाहिए। मित्र को मित्रता देने में क्या बड़ाई, या क्या पराक्रम ! शत्रु को मित्रता से जीतना है। शत्रु का सच्चा नाश हसी में है; क्योंकि शत्रु ता के बीज मिटते हैं और शत्रु सदा के लिए मित्र बनता है। पाकित्तान कुझ भी करे तो भी क्या भारत भलेमानस की तरह दबता चला जाय !—गांधी की नीति ऐसी ही पोच यी श्रीर कांग्रेस उसी दब्बूपने से चल रही है, संघी और महासभाई मानों यह कह कर हिन्द-पराक्रम को जगाना चाहता है।

पराक्रम तो ठीक; लेकिन पराक्रम हिन्दू बनकर क्या ग्रहिन्दू को उसी के लिए ललकारता नहीं है ! ऐसे इन्सानी पराक्रम का बात ग्रीर राष्ट्रीय कहं जानेवाले परस्पर-विरोधी पराक्रमों के विग्रह की ही प्रदर्शिनी होती है।
युद्ध वही नुमाइश नहीं तो क्या है ? इसिलए समय है कि अब एक
अनीखे पराक्रम का उदय हो, जो अहिंसक और प्रसन्न सदा इसिलए रह
सके कि उसका राग किसी सीमितता में नहीं है; कि उसकी श्रद्धा उस
असीम में है, जो सब कहीं है, इसिलए जिसमें शत्रुता के लिए स्थान
नहीं है। वहं अहिग और अदूर रह सकता है, क्योंकि रोप ही है जो
दिगता और दूरता है। उत्कर और उद्दोष्त राष्ट्रवारों के घमरान में
अगर कोई राष्ट्र, समग्र मानवजाति की ओर से, इस भव्य और मौलिक,
इसिलए आध्यास्मिक, पराक्रम का पच्च लेकर खड़ा नहीं हो सका तो भविष्य
वया होगा, कहना मुश्कल है।

गाँधीजी तो गये । उनमें धर्म कर्म से श्रींग कर्म धर्म से जुदा न था । लगता है कि उनकी परम्परा कहीं बँटकर खंड-खंड तो नहीं हो गयी! ऐसा तो नहीं कि धर्म विनोवा में श्रीर कर्म जवाहरलाल में टिकने को रह गया श्रीर उन सिरों के बीच का गाँधी-सूत्र कुछ चीचा पड़ गया ? ऐसा है, तो शान्ति के लिए शायद मानव की श्रोर से श्राशा का स्थान नहीं है । लेकिन श्रागर ऐसा नहीं है, श्रीर वह श्रात्म-सूत्र दोनों को श्रीमन एकता में गूँथकर मारतीय जीवन में सक्रिय कर दे सकता है, तो इस निश्चय रखें कि उमक्ते काले बादल कट जावेंगे श्रीर मारत के मावी को बालसूर्ण के रूप में उदय होने से कोई न रोक पायेगा। तव पूर्व से प्रकाश जागेगा श्रीर एक नई विश्व-संस्कृति का श्राविमांच होगा।

飮

## युद्ध और भारतीयता

युद्ध के बाद की हिन्दी-कहानी के बारे में कुछ कहने को मैं राज़ी तो हो गया हूँ; लेकिन सच यह है कि साहित्य काल सं कटता है, ऐमा सुभको नहीं लगता। युद्ध से पहले माहित्य एक या और युद्ध के बाद उसको वूसरा होना होगा, यह बात समभ में नहीं आती। हजारें। वर्ष पहले ओर हजारें। मील दूर की कथा अगर हमारे ममें को आज मी छू जाती है, तो मानना होगा कि कुछ है, जो देश-काल में बॅटा नहीं है। साहित्य माने। उसी का प्रतीक है। यह नहीं कि वह बदलता नहीं, या नयें-नये रंग नहीं लेता। पर रूप और विधान-परिधान बदलता है, अन्तरंग नहीं बदलता।

यह तो नाप-जोक्व का आज का ढंग बना है, जो चलते इतिहास में जीवन-दर्शन की किंच्या जोडता और खीजता है। काल के नियम से विमाजित करके वह हर चीज में विकास के सिद्धान्त की सिद्धि देख लेना चाहता है। मानव-खुद्धि को यह हठ वहुत उपयोगी हुआ है। ऐसे ज्ञान विज्ञान निपजा है। लेकिन इधर उस एकान्त कर्म की अनुपयीगिता भी खुल रही है। सत्य को मुठ्ठी में कर ले, इसमें उतनी मानव की सोर्थकता नहीं है, जितनी इसगे हैं कि वह अपने की सत्य के डाय में दे दे। सत्य जानने से सत्य होना अवश्य ही बड़ी परिपूर्णता है। ऐसे यद्यपि प्रतीत नहीं होता कि युद्ध विपय-सामग्री देने से अधिक साहित्य के सम्बन्ध में कुछ

कर सकता है, तो भी वह उपलक्ष्य बनकर हमें अपने को देखने-बूभने का अवसर दे सकता है। और यह इस समय के लिए जरूरी भी है।

युद्ध मानव-समुदाय को दो दलों में बाँट देता है। बाँटने के साथ उन्हें अलग दायरों में एकतित भी कर देता है। जो अन्यथा विखरे रहते हैं, तीव विरोध-भाव को लेकर वे परस्पर विमुख दिशा के केन्द्रों में मुझ्कर इकट्ठे हो जाते हैं। यानी उससे चेतना में दो केन्द्र, किए शारीर में दो मन, बन उठते हैं, जिनके बीच खींच-तान चलती है। अंग्रेजी के 'पोलराई जेशन' शब्द में यही भाव है। पिछला युद्ध तो समुदाय क्या समूची मानव-जाति का ही था। मानव की जाति यों कितनी भी विखरी हो, है तो अन्त में एक कुदुम्ब ही। अतः युद्ध यूरोप में छिड़ा, तो एशिया का, या कहीं का, कोई मुक्क चैन से रह सका, सो नहीं। युद्ध का तारडब जहाँ नहीं मचा, उस देश का भी पिंजर युद्ध के अधीन बुरी तरह हिल आया। लोक-चेतना दलगत भावों से खुव्ध हो रही और साहित्य की राह वह जोम, जिसको प्रचार नाम दिया गया, खूब ही उतरा और उभरा।

तुश्मन यों गिनती में दो होते हैं, पर तुश्मनी में वे एक बनते हैं।
यानी एक-सी फीजें, एक से ऋस्त्र, एक-सा क्रोध श्रीर एक-सा उनका
साहित्य होता है। भरएडे पर यदि चिन्ह भिन्न होते हैं, तो कहानियों में
भी उसी तरह नाम ऋलग हो जाते हैं। एक जगह राच्य फासिस्ट है
श्रीर वह जर्मन है, तो दूसरी जगह दानव कम्युनिस्ट है श्रीर वह रूसी
है। तदनुसार कुछ दूसरे ब्यौरों में फर्क है। शेप में एक है, वैसा ही
दूसरे को बनना होता है। युद्ध-जनित साहित्य की यह विशेषता है कि
उसमें श्रामह दल का है, श्रीर श्रपने-श्रपने दलका, लेकिन श्रामह-वाद
सम कहीं एक-सा है। इस दलवाद की प्रतिष्ठा में व्यक्ति की निजता इब
जाती है, मौलिक पात्र श्रीर चरित्र की श्रवतारणा कहानी में दुर्लम हो
जाती है। पात्र जैसे पार्टी नहीं तो परिस्थित के हाथीं सधे-बँध चलते हैं।

तब साहित्य ज्यक्ति के महत्व की कीमत पर वर्ग को गीरव श्रीर सत्यता देने लगता है। संचेप में तब समस्या हार्दिक की जगह बोद्धिक होती है। कहानी में गहनता श्रीर सघनता की जगह परिचय-विस्तार श्रीर रूप-वैचित्र्य का श्राकर्पण डाला जाता है श्रीर वह ज्यथा से श्रिधिक वोध देने लगती है।

पहले के युद्ध तो भी सीमित थे। मैदान में वह लड़े जाते थे श्रीर लड़ने वाले इसी धन्धे के चित्रय लोग होते थे। जिन्दगी का एक वड़ा हिस्सा उससे श्रळूता वच रहता था श्रीर जनता श्रपने काम श्रीर स्वभाव से उखड़ती न थी। मगर पिछला युद्ध सूच्म श्रीर व्यापक था। उसकी भूमिका मानसिक ज्यादा थी। यह सिर्फ मैदान में श्रीर मोचों में नहीं, घर-घर में श्रीर मन-मन में लड़ा जाता था। सब व्यापार जैसे उस युद्ध के उद्योग के श्रंश बन श्राये थे। रेडियो श्रीर श्रव्यवार उनके श्रस्त्र थे। कला को भी उसका त्रिश्रल बनना हुश्रा था। चित्तोत्कर्ष के उपयोग के ऐसे सब साधन तब युद्ध के काम के बने। कारण, युद्ध संकट न था, श्रादर्श श्रीर लच्य के साथ जुड़ गया हुश्रा एक मिशन था। संघर्ष एक धर्म बन उठा था। उस संघर्षवाद ने मानो साहित्य को भी श्राप्म-प्रयोजन का दान दिया— श्र्यात् कहानी से श्रावेश श्रीर ह्रेप का उमार प्राप्त किया गया।

कहानी परम्परा से कथा-रूप में लोगों के जमावों में गाई श्रोर बाँची जाती थी। वही लीला श्रोर नाटक रूप में खेली श्रोर देखी जाती थी। वह माध्यम थी, जिससे मानवता परस्पर को, श्रीर ऐसे श्रपने को, प्राप्त करती थी। वह संस्कृति के श्रीर मर्यादा के निर्माण का श्राधार थी। धर्म उसके स्त्रों से बनता था श्रीर नीति व्याख्या पाती थी। वह श्रहंता को निखारती श्रीर प्रसन्तता में लोगों को मिलाती थी। मनोरंजन श्रीर सहज शिक्ता का वह साधन थी। ऐहिक श्रीर घटनात्मक जो-कुछ है, सब ताना-बाना बनकर उस कथा में बुन जाता था श्रीर उसके पट्यर श्रात्मदर्शन लिख श्राता था। इस माँति धर्म-प्रन्थ सब कथा-श्राख्यान

हैं छोर महाकाव्य मानव-स्रातमा की पराक्रम-गाथाएँ। यों महापुगण (Epics) राव युद्ध को लेकर बने हैं, पर युद्ध वहाँ सामग्री है, सिर्फ रंग कि जिससे चित्र बनें स्त्रीर नीति फिलत हो। कपास ग्रीर कपड़े में, स्याही ग्रोर चित्र में, जो अन्तर है, वही वहां युद्ध ग्रीर दर्शन में है— अर्थात् युद्ध में कृतित्व नहीं बताया है, वह तो उसकी निष्फलता जान लेने में है। साहित्य में युद्ध के लिये उत्तेजना नहीं हैं, उसका उपरामन है। इसी से ऐहिक युद्ध वहाँ श्रात्मिक वन जाता है। जैसे वह श्रात्मानवां का, देवों ग्रीर दानवों का ही युद्ध हो, मानव को तो सान्ती-भर रहकर सिर्फ वहाँ से ज्ञान प्राप्त कर लेना हो।

कह सकते हैं कि आधुनिक युद्ध ने कहानी पर अपने की तात्का लक प्रयोजन से जोड़ देने का भार डाला । बहुत ऐसी कहानियाँ लिखी गयी श्रीर उनको बाजार भी भिला, यद्यपि पाठक के अन्तर्भन के साथ उन्होंने कितना तादात्म्य बना पाया, यह कहना कठिन है। पहले साहित्य में प्रयोजन था तो निर्धेयक्तिक । प्रकट में जैसे साहित्य प्रयोजनातीत था । श्रानन्द उसका प्राया था श्रीर दायित्व श्रलग से उसके यन्धे पर नहीं बैटता था। प्रसाद की उससे माँग थी, ख्रीर ऋषिक मांग न थी। इसस वंद अपने को बचाता न था, बल्कि छटाता चलता था। वह हर दुखिया की बैसाखी हो सकता था। पर कमची या कतरनी वनना उसका काम न था। लेकिन जब लड़ाई आयी. तो जैसे इस वायव्य वस्तु पर भी दसरों को हराने ग्रीर अपनों को जिलाने का जिम्मा डाला गया। ऐसे कहानी ग्रानन्द से अधिक चिन्ता की चीज बनी। रचना से ग्राधिक उसमें श्रालोचना हुई। प्रगति के नाम पर एक बाद ही तब उठा, जा प्रयोजन के श्रांक्य से साहित्य की, श्रीर उस साहित्य के श्रांक्य से जन-मानस की अमक दिशा में गढ दैना चाहता था। ऐसे कहानी की निद्व नद्वता कम हुई श्रीर उसने कुछ द्वन्द्वात्मक रूप पहना । निश्चित श्रीर नैतिक होने की अपेद्धा वह समस्यामूलक और संशयजनक बनी। माने द्विगाना उसका दाम है, जमाना उसका काम नहीं है।

साहित्य यदि निर्माण करता है, तो कल्पना के वलपर। स्वप्न को श्रद्धा में खीचकर, जीवन का मर्म डाल, साहित्य उसे शब्दों के मनोरम में मूर्त करता है। मूर्त बना वह स्वप्न फिर यथार्थ को प्रेरणा देता है। किन्तु युद्ध के लिए प्रेरणा श्रीर चाहिए थी। श्रानन्द की नहीं, भय की प्रेरणा। परिणाम यह हुआ कि रोमांस की शक्ति घटी, यथार्थवाद उपजा। यथार्थवाद जा उपर प्रकट पूल की सुन्दरता की श्रीर न जाकर जड़ों को, जहां खाद 'लगता है, कुरेदता है। यह जरूरी काम था, मगर विज्ञान का काम था। पर कहानी का भी वह काम बना, माना कहानी प्रकृत न होंकर वैज्ञानिक वनी। सृष्टि की नहीं, मानो कारीगरी की वह वस्तु हुई।

इस प्रकार वैद्धिक विश्लेषण श्रीर व्यवच्छेद के रास्ते से कहानी धीरोदात्त नायक से चिलत-िचत्त चरित्र तक श्रा गई। मानो महत्ता सिन्द्रश्च हो श्रीर चुद्र में ही महत्व हो। बहुत कहानियाँ लिखी गई, जिनमें संयम पर व्यंग्य था, यथेच्छाचार पर स्पृहा। सव पुरातन में तथ प्रतिगामिता दीख श्राई श्रीर सब नूतन में प्रगति। परम्परा का इन्कार क्रान्ति का स्वीकार बना। युद्ध का यह अवश्यम्भावी परिसाम था। वर्त्त मान भावी तक उठे, इसके लिए श्रावश्यक समक्ता गया कि वह श्रातीत से दूटे। पूर्व की स्थिति छूटकर ही पश्चिम की उन्नित सम्भव दीखी। श्रानेकानेक हिन्दी-कहर्णनयों ने इस मुहिम को लिया। मन्दिर, ब्राह्मण, साधु श्रादि संस्थाश्चों श्रीर संयम, तप, त्याग श्रादि मूल्यों की ग्रह्मण कहानी की उन्नस्ता ननी।

विवाह की पवित्रता और परिवार की मर्यादा भारतीय समाज के मूल में घुले-मिले तत्व हैं। इन संस्थाओं ने इतिहास के आक्रमणों के बीच मारत को थामे रखा है। लेकिन कहानियाँ लिखी गईं, और कम संख्या में नहीं, जिनमें इन मर्योदाओं को गिरा देने की खुली सर्दा थी।

विवाह मानो विकास में श्रीर प्रगित में बाधक है श्रीर परिवार व्यक्ति को समाज से काटता है, क्योंकि वह एक सीमित स्वार्थ सेउसे जोड़ता है; ऐसं इन कहानियों का मन्तव्य था कि विवाह व्यभिचार का पोपक है श्रीर प्रेम के प्रवाह पर बाहरी श्रवरोध डालकर केवल समस्या उत्पन्न करता है। मानना होगा कि युद्धोत्तर-कालमें नये लेखक समाजमान्य मर्यादाश्रों का बहुत श्रादर लेकर भैदानमें नहीं श्राप श्रीर उनकी रत्ताके प्रति उन्होंने श्रपना दायित्व नहीं माना। बल्कि उन्हें तोड़ना भवितव्यता के प्रति श्रपना कर्त्तव्य माना।

लेकिन युद्ध के बाद श्रव धीरे-धीरे हिन्दी-कहानी में कुएठा श्रा रही मालूम होती है। श्रव तक चलनेवाले विश्वात मानो लँगड़े पड़े जा रहे हैं। जैसे नये तिरे से नई श्रद्धा प्राप्त करने की ग्रावश्यकता हो न्त्राई है। मानों प्रचलित मूल्य काम न देते हों, लेकिन असला श्रीर सनातन भी एकाएक द्वाथ न आते हों। दनिया तेजी से बदल रही है श्रीर घटनाश्रों की गति द्र त हो गयी है। राष्ट्र अपने में होकर कोई जी नहीं पाता है और शेष दुनियासे लेन-देन हर किसी का लाचार बढता ही जाता है। नये रंग-रीति श्रीर नई चाल-ढाल के लोग हर मुल्क में श्राये दिन दीखते हैं श्रीर हवाई-जहाज सब कहीं के लोगों को उड़ाकर यहाँ-वहाँ पहुँचाते रहते हैं। ऐसे राष्ट्र-भ्रेम कोई बड़ा ऊँचा श्रादर्श श्रव नहीं रह गया है। यद्यपि राष्ट्र का मान मन से सहज नहीं छुटनेवाला है, पर मूल्य श्रीर वैल्यू के तौर पर राष्ट्र तेजी से हमारे हाथ से निकला जा रहा है। वह राष्ट्र,, जिसको लेकर हम जीने श्रीर मरने का लद्दय पाते थे, श्लीर दूसरे वे शब्द, जी लड़ाईसे नारे बनकर धन्य भाव से हमें मोत तक भेज देते थे, अपनी शक्ति खोते जा रहे हैं। ऐराटी-फासिस्ती नाम की अब कोई प्रेरणा नहीं बची है-मानो ऐंटी शब्द की ही प्रेरणा समाप्त है। डैमोक्रोसी श्रीर सोशलिङम श्रीर कम्युनिषम अब वे शंब्द नहीं रहे, जो स्फ्रत्ति जगायें। वे विवेचन के काम के हैं, बिलदान के नहीं । ऐसी अवस्था में यदि हिन्दी-कहानी की गलि कुछ

ठिठकी दीखती हो, तो विस्मय नहीं है । यों तो घड़ाघड़ पत्र निकल रहे हैं श्रीर कहानी होना सब में श्रनिवार्य है । श्रीसत डेढ़ से दो सो तक कहानी रोज की खपत होगी । श्रिषकाँश उसमें मरने वाली कहानी हैं । जीनेवाली कहानी की संख्या हिन्दी में इस समय सन्तोपप्रद है, यह नहीं कहा जा सकता। देश श्रमी नया जन्मा है श्रीर कष्ट में है । युद्ध के ध्वंस को समेटने में भी समय लगता है । शारीर-कष्ट में मानसिक उर्वरता की श्राशा भी क्या की जाय ! मूल्यान्तरीकरण का भी कालयोग है । खासकर भारत में मन्थन गहन है । शान्ति से पहले रूस ने हमें डास्टाविस्की, टालस्टाय, तुर्गनीव, चैकफ़, गोकीं लगभग एक साथ दिये । भारतमें इस बक्त उससे भी गहरा श्रात्मालोड़न है । वह गाँधी-जैसे विस्मय-पुरुप की कर्मभूमि रहा है, मार्क्स का अध्ययन भी यहाँ कम नहीं है, श्रीर श्रॅगरेजी किसी भी प्रान्तीय भापासे यहाँ की समृद्ध भापा है । ऐसी स्थिति में सब प्रभावों को श्रात्मसात् करके एक महासमन्वयका नया रूप प्रस्तुत करनेमें भारतको समय लगे, तो श्रमहोनी बात नहीं है । लेकिन यह निश्चय है कि हिन्दी में श्रव भारत की मीलिक प्रतिमां का स्वर उमरेगा ।



#### तोप चौर हम

पिछले दिनों मैंने ऋखबार में एक तस्वीर देखी। उसमें सरदार पटेल कांग्रेस कार्यकर्ताक्रों के बीच में विराजमान उन्हें परामर्श दे रहे हैं। मुला-कात का स्थान एक जंगी जहाज का डेक है। सरदार कुतें क्रीर घोती में सीधे साथे ढंग से बैठे हैं, कार्यकर्त्तां जन फर्श पर। दृश्य घरेलू क्रीर मुहा-वना है। कोई बनावट नहीं है, सजावट नहीं है श्रीर वातावरण में श्रास्मी-यता है। यह सब श्राच्छा लगा।

लेकिन सरदार के सिर पर, मानो छुत्र की छाया देती हुई, मुँह आगे निकाले ये चीजें क्या हैं ? एकाएक समक्त नहीं आया कि वे क्या हो सकती हैं ? लेकिन पल भर बाद ही मालूम हो गया कि वे तोपें हैं। काले दिखते हुए सिर उन्हीं के मुँह हैं। जंगी जहाज की वे तोपें रचा का हाथ बद़ा कर नीचे थेठे हुए लागों को अमय का दान दे रही हैं, इसी से उनके तले गंमीर मंत्रणा चल रही हैं ! अवश्य मंत्रणा शक्ति और सुज्यवस्था के लिए हैं, क्योंकि तोपों की सूरत चाहे जैसी हो, एकत्र व्यक्ति उस कांग्रेस के कार्यकर्ता हैं जो गांधी-नीति को अब तक मानती आई है ।

सहसा तो कुछ विलक्ष जान पड़ा। पर तत्त्रण प्रतीत हुआ कि चित्र अप्रयथार्थ नहीं है, वह व्यंग नहीं है। घटना से अधिक वह चित्र स्थित का है। मानो जो है, कुल का कुल वही इस चित्र में प्रतिविधित हो आया है। श्रमी सन्, ५० है। गांधी जी को गये दो ही वर्ष से कुछ ऊपर हुश्रा है। हम गांधी जी के वारिस निश्चय ही गांधी नीति से काम चलाना चाहते हैं। इसी लिए खादी है, सादगी है श्रोर सहजता है। ये सभी चीजें लोक-राज्य की शोमा बढ़ाने वाली हैं। परिवार के बीच बुजुर्ग बैठे हों, ऐसे सरदार बैठें हैं। श्रानवान का दिखावा कहीं नहीं है। गांधी-परम्परा का पूरा पालन है।

फिर जो तोपें हैं, उनपर ध्यान जाने की क्या आवश्यकता है ? वे तो परिस्थित की मर्यादा की सूचक हो सकती हैं। नीति आहिंसा की है, पर परिस्थित में हिंसा हो तो आहिंसा की नीति तांग को साथ लेने से डर नहीं सकती। मन में आहिंसा चाहिए, फिर बाहर साथ में तोप-तलबार भी हो, तो क्यों असम्भव है कि वह मन की आहिंसा की रचा के लिए न हो ?

श्रादर्श से सिर्फ काम नहीं चलता । यथार्थ को पहचानने की शक्ति चाहिए । यथार्थ की मर्यादा का उल्लंबन नहीं हो सकता । देश में हम शांति चाहते हैं, समाज की श्राहिंसक पुनर्रचना चाहते हैं। तो पहले दुरमन से देश को बचाना श्रीर उन्नित के मार्ग को निष्कंटक करना होगा कि नहीं १ वह इस तरह श्राहिंस की दिशा का ही प्रयस्न क्यों न समम्प्रा जाये १—इत्यादि तर्क वर्तमान राज्याधिकारी का हो सकता है।

उस तर्क का उत्तर वृथा है। निर्भयता यदि शस्त्र होने से ही छाती है, तो शस्त्र के अभाव में भय आ जायगा। शस्त्र के अभाव को अहिंसा मानें, तो भय भी अहिंसक हो जाता है। इसलिए तलवार के विरोध में कोई तर्क नहीं दिया जा सकता है। कारण भय को दूर करने के लिए शस्त्र ग्राया है। भय को तो दूर करना ही है। यदि किसी भी खोर से निर्भयता नहीं आ सकती है, तो शस्त्र को अवस्य आना होगां खोर नीति का कोई भी उपदेश न उसे टाल सकेगा, न अनुचित कह कर स्वयं सार्थक हो सकेगा।

ग्रतः प्रश्न यह नहीं है कि तोप श्रमुन्दर श्रीर श्रपवित्र है श्रीर वह न हो। किन्हीं को वही बहुत सुन्दर लग सकती है। श्रमुक परिस्थिति में वह इतनी महिमा-मिण्डत हो सकती है कि वेदी पर देवता रूप में विराजी जाय।

प्रश्न है केवल यह कि हमारी श्रद्धा क्या है ! श्रीर यह प्रश्न श्रमीघ है । इस बारे में थोड़ी भी चूक घातक हो सकती है ।

श्राहिंसा एक समग्र नीति है। समय पर वह एक शस्त्र भी है। वह इर जगह काम देने के लिए है। वह धर्म है, जो कहीं हार या टूट नहीं सकता है।

त्रव दो ही स्थितियाँ हो सकती हैं। या तो हम उसमें विश्वास करते हैं, या विश्वास नहीं रखते। श्रद्धा में बीच की स्थिति कोई नहीं हैं। या तो श्रद्धा है, या नहीं है। श्राहिंसा की श्रद्धा से हिंसा का जीवन में से लोप नहीं हो जाता, लेकिन जो होता है वह यह कि उसको श्रास-समर्थन नहीं मिलता। सम्यक दर्शन का बस एक यही लच्चण, यही खुवी है।

श्राज की स्थिति संकटअस्त इसिलए नहीं है कि उसमें हिंसा श्राधिक है, बिल श्राज तो उन्निति श्रीर सम्यता ही ज्यादा है। पहले जैसी वर्धरता श्रीर तृशांसता नहीं है। सब चीज को श्राज कानून का श्रीर व्यवस्था का रूप मिला है। हिंसा भी पहले जैसी श्रानगढ़, करूर श्रीर दाक्या नहीं दीखती है।

संकट का कारण यह है कि दर्शन में से हिंसा-ऋहिंसा की विवेक-रेखा हमें चीण हो गई है। दर्शन को व्यर्थ का सामान मान कर उस बारे में ऋसावधानता को उचित मान लिया गया है। जैसे हिंसा-ऋहिंसा सूखे तत्व का प्रश्न है, ऋनिवार्य विवेक का प्रश्न नहीं है!

यह स्थिति घातक है। धर्म की, अर्थात् विवेक की, अपेन्ना में प्रत्येक ज्ञुण इस में आत्म-मन्थन और आत्म-निरीक्षण चलते रहना चाहिये। करने-धरने की वदहवासी में आत्माचलोकन से असावधान होना सीधे नरक की त्रोर बढ़ना है। काम-काज का श्रावेश श्रगर हमें धर्म के निदेश से श्रलग डाल देता है, तो काम काज का वह समारोह ही हमें फंसा देने वाला है। मशीनों श्रोर मिलों के सहारे होने वाला भीमोद्योग संकट को बढ़ा ही सकता है, श्रगर उसके साथ सम्यक्-दर्शन का योग हमें न मिल सके। केवल तेजी से चलने की इड़बड़ी से न चलेगा, सोचना होगा कि चलना किथर है।

गांधी जी अभी हमारे बीच हां गए हैं। अद्भुत और प्रचएड उनकी कर्मठता थी। प्रथम कोटि के कर्म-प्रतिष्ठाता पुरुषों में उनकी गण्ना है। लेकिन जब कर्म के कूच का अवसर आया, तब ही तब धर्म-चिन्तन की आवाज उन्होंने ऊंची की। युद्ध के अवसर पर गीता का उपदेश दृथा न था। कुरुक्तेत्र ही धर्मत्तेत्र है। जब करना सामने हे, तभी का सोचना सार्थक है। ऐसे ही मन्थन में से धर्म की प्राप्त और सृष्टि होती है। गांधी जी ने प्रत्येक कूच और प्रत्येक मार्चे पर बदने से पहले हिंसा-अहिंसा संबंधी सूदम धर्म-विचार को कांग्रेस कार्य-समिति के, या अपने दूसरे साथियों के, सामने रखा। वहीं वह विचार अनिवार्य और अमोध होता है।

राजनीति में हर महत्व के च्या पर धर्मनीति की बात उठाने वाला गांधी जो आज नहीं रह गया है, इससे राजनीति अपने ही ब्यू है में फंसी दीखती है। समूचा कर्म केवल एक दुश्चक की रचना करता दील रहा है। कर्म एक वह चक है कि जिसमें धर्म की स्तृष्टि न हो तो वह केवल संहार और युद्ध की रचना करेगा। धर्म की दृष्टि डाल कर हम उसी युद्ध चेत्र को धर्मचेत्र बना दे सकते हैं। तब संघर को भी रूपान्तरित करके उसमें से त्राया की राह निकाल सकते हैं।

धर्म-कर्म का वियोग त्राज त्रास का कारण है। एक उनके संयोग में ही रक्षा है। दूसरा कोई उपाय संभव नहीं है। त्राज के त्राखवार का चित्र उस संयोग का चित्र नहीं है, वह उसका बिद्रूप उपहास हैं। तोप के सुंह के नीचे की खादी क्राहिंसा की शोभा नहीं हैं। उस तोप से सुनता हुआ खादी पहिनने वाला होता, तो उस खादी को मैं समक्त सकता था। अन्यथा हिंसा के पेट में दुबक कर बैठने वाली ऋहिंसा कोई नई चीज नहीं है। उसे मदा से लोग जानते हैं श्रीर उससे किसी को कुछ आशा नहीं हैं।

हम जो यहां लोक-राज्य बना कर बैठे हैं, मां सचमुच ही खादी उस की सही प्रतीक हो सकती हैं। सादगी उसका लच्च ग्र और माईचारा, जिस में छुंदा बड़ा नहीं है, उसका सही रूप हो सकता हैं। लेकिन तोप तो तानाशाह तानता है! लोकशाही और तानाशाही सिर्फ चहरे नहीं हैं कि सुविधा से बदले जा सकें। पर श्राज ऐसा ही मालूम होता है। लोकशाही श्रापने भीतर से तानाशाही के लिए तैयारी करती हुई देखी जाती है। एक यहाँ नहीं, सब कहीं ऐसा है। इसलिए शब्दों के श्रालजाल के नीचे रोग के बीज की पकड़ने की जरूरत है। श्रान्यथा किया कराया सब चौपट होगा श्रीर लोकशाही तानाशाही का श्रासन बनने को रह जायगी।

श्राज जैसे विश्व की सभ्यता श्रीर उसका विशान श्रानी पर खड़े हैं, उनको कसा श्रीर परखा जा रहा है | केवल सिदयां का समर्थन होने से काई चीज रक्खी जाने वाली नहीं है | खरी हाने पर ही वह ठहरेगी, श्रान्यथा फेंक दी जायगी | बङ्ग्पन, बड़े शब्द, बड़े वायदे, बड़े नकशे, श्राव मानवता को श्राधिक काल रोक नहीं सकेंगे | राज-नेता का अंधा श्राविश्वास की वस्तु बन उठा है । शासन श्रीर शासक श्रातंक की वस्तु भले हो, श्रव हृदय के श्रादर का पात्र वह नहीं रह गया है ।

गांधी ने गंभीर श्रीर श्रान्तिस्क एक क्रांति जो कर दी है, उससे श्रव शासक प्रत्यक्त में जब तक सेवक नहीं बन पायेगा, तब तक वह श्रपने कां सुरिक्ति भी श्रनुभव नहीं कर सकेगा। गांधी जी ने जीवन के भ्रष्टत मूल्य कां हमें दें दिया है। बता दिया है कि शहर की सभ्यता के कंगूरे पर बैटा समृद्ध नेता केवल श्राभिनेता है। केन्द्र वहां नहीं है, न मूल्य वहां है। वहाँ केवल माया है, जिसने गन को मोह रखा है। उस मोह पर ही तोप श्रीर हम २२४

राज्यसाही श्रोर साम्राज्यशाही चला करती है। उसकी रत्ता के लिए युद्ध होते हैं, श्रोर उसकी मोहनी डालकर युद्ध के लिए ईंधन जुराया जाता है। नहीं, केन्द्र है वहाँ जहाँ श्रम का पसीना धरती में डाल कर श्रम्न उगाया जाता है जो हमारा पोपण करता है। शासन समभा जाने वाला काम न ऊंचा है, न श्रावश्यक है। इस माया मोह ने ही उसको महिमा दं रखी है श्रीर श्रमिकों का श्रम उसे ऊंचा उठाये रखने के काम में चूस लिया जाता है। यह सब किस तरह से सिक्के के जादू से होता है, उस सिक्के के तिलिस्म को समभता लगभग श्रसंभव बना दिया गया है।

इसलिए जरूरी है कि जीवन की प्राथमिक बातों को श्रोमल बनाकर व्यर्थ शब्द का श्राडम्बर हम न रचे। कमें में से धमें के विचार को निकाल कर फेंकें नहीं, बरन् धमें में से कमें की प्राप्ति करे। श्रम्यथा श्राकांचा जगाकर उस ज़ार से जो कमें की सृष्टि होगी वह हमें ही खा जायगी। रुपये से चलने वाली सरकार श्रीर उस जोर से होने वाले काम ऐसे ही श्रातम-धातक होते हैं। ने सदा श्राधकाधिक रुपया माँगते हैं श्रीर समाज में तनाव डालते हैं। सरलता उसमें पिसती श्रीर कुटिलता फैलती है।

कर्म को धर्म के ऊपर रखने पर फिर धन का मन के ऊपर दनाव ने होना ग्रसंभव है। सरकार ग्राज उसी कपए को ऊंचा उठा कर उसी की छड़ी को मान बनाकर चल रही है। बेतन की ऊंचाई के माप में व्यक्ति की योग्यता समन्ती जाती है। इसलिए व्यक्ति की निगाह व्यक्तित्व पर नहीं वेतन पर है। ईमानदारी नहीं, तिकड़म वहाँ की नीति बनती है।

श्रव समाज एक हैं। सरकार में जो मान चलता है, उसी की समाज में प्रतिष्ठा होती है। वहाँ माम ऊंचे वेतन का है, यहाँ भी धन दोलत का है। मूल में मान वह रख कर अष्टाचार श्रीर घूंसखोरी को रोका वा मिटाया जा सकता है, यह थोथी कल्पना है। रिश्वतखोरी का फल बिना इंटल के पेड़ पर नहीं लगता। रुपये की मापा में सोचना श्रीर चलना स्वयं वह डंठल है। मूल वही रखेंगे, तो लगने वाला फल बदल नहीं सकता।

केवल कमं, फल श्रीर उसके परिणाम को, सामने रखकर होता है। श्रथीत उसमें श्रासिक श्रीर श्राकांचा है, उसमें स्वार्थ श्रीर लाम की दृष्टि है। ग्रेरणा वहां 'प्राफिट' की हैं।

लेकिन धर्म स्वयं कर्म को ही प्रतिष्ठित करता है। वह उसको कर्तव्य का रूप देता है। ऐसे फलासिक से वह कर्ता को मुक्त करता हैं। परिशाम में कर्म से सामाजिक वन्धन श्रीर वैपम्य उपजने की संभावना कम होती हैं। श्रीन भाषट रह नहीं जाती श्रीर बन्दर-बाँट करने के लिए हठात तराजू लेकर किसी को शासक श्रीर व्यवस्थापक बनने का मौका भी कम होता हैं।

मूल में इस दृष्टि को नहीं रख सकेंगे तो जाने-अनजाने अपने सिरों पर इम एक अधिनायक को ला ही बिटावेंगे।

यदि उस संभावना को इस अनिष्ट ओर मानव जाति के लिए लज्जा-जनक समभते हैं तो मूल की ओर इमें जाना होगा। देखना होगा कि हमारा उत्पादन और वितरण, और उनके आधार पर बनने वाले हमारे संबंध, क्या हैं और क्या उन्हें होना चाहिए? अगर इन संबंधों में हिंसा और शोपण हैं तो अन्त में ऊपर अधिनायक को आना ही होगा, जो छत्र को और दंब को लेकर इम पर शासन करेगा। तस्वीर की तोप के मुंह की तरह उसकी बाहें ऊगर होगी और उसकी छाया के नीचे बैठ कर इम खादी पहनेंगे और शान्ति चरचेंगे!

ं ऐसा यदि नहीं होना है, श्रोर नहीं होने देना है, तो मृलभूत दृष्टि को स्पष्ट श्रपने मन में बिठाना श्रोर स्वयं उस पर श्रास्तृ होना होगा ।

जगह-जगह से सुनता हूँ कि कम्यूनिस्ट दर्शन तो ठीक है, कम्यूनिस्ट उपद्रव ठीक नहीं है। सुभे लगता है कि कम्यूनिस्ट उपद्रव श्रीर कम्यूनिस्ट फीजों की तो कोई चिन्ता ही नहीं है। उनमें रत्ती मर शक्ति नहीं है। लेकिन दर्शन के रूप में कम्यूनिष्म इसारे सन में जगह पा सकता है, तो निश्चय है कि सिर पर एक रोज उसका अधिनायक भी सवार दीखेगा। कारण, यह दर्शन नही है, धर्म नहीं है, अ-कर्म नहीं है। वह प्रोग्राम है, वह कर्माग्रह है। धर्म की सिद्धि वहां कर्म में है और दर्शन का फलित भी कर्म में है। ऐसा कर्मवाद अगर हमारी अद्धा में बैठ सकेगा तो हम एक दिन कर्म के पुतले (औटोमेटन्स) होंगे और चाबुक लेकर कर्म-कारखाने का मैनेजर अपने असिस्टेंटों की जमात लेकर हमसे कर्म वसूल कर रहा होगा। कर्म जब तक धर्म-प्रेरणा से कर्त्तव्य (अर्थात् अ-कर्म) के रूप में हमारे द्वारा नहीं होगा, प्रत्युत आकांद्वा में आग्रह-पूर्वक फल-भोक्ता बन कर हम उसे कर रहे होंगे, तब तक निठल्ले राजनीतिज्ञों की पार्टियां, आपस में खींचतान और कोलाहल मचाती हुई, अदल-बदल कर हमारे ऊपर स्टेट के नाम पर शासन करने का दंम रचती ही रहेंगी।

श्रिहंसा वह नीति है जो समाज को ऐसी श्रान्तरिक श्रीर सहज सुव्य-वस्था तक ले जायगी जहाँ शासन को श्रितिरिक्त परिग्रह के रूप में टिकने की श्रावश्यकता न होगी। व्यक्ति स्वेच्छा से श्रिमक होगा। श्रतः वह रवतंत्र होगा, सहानुभूतिशील श्रीर सहयोग परायण होगा। संत्रेप में व्यक्ति नैतिक नियम से चलेगा श्रीर समाज 'स्टेट-विहीन' होगा।

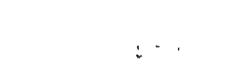
किसी भी दूसरी पद्धित या तर्क से चलकर हम उस अवस्था में भरके विना न रह सकेंगे जहाँ व्यक्ति केवल एक होगा ख्रोर वह अधिनायक होगा, श्रोर व्यक्तित्वशाली केवल एक दल होगा ख्रोर वह शासक दल होगा; शेष सब मनुष्य केवल श्रंक क्रोर ख्रोजार होंगे।

श्रहिंसा का नाम हमें विमीपिका से बचा न सकेगा। श्रहिंसा का काम ही उस दुस्संमावना के स्थान पर हमारे लिए एक उज्ज्वल भविष्य का निर्माण कर सकेगा।

कांग्रेस को श्रीर कांग्रेसी सरकार को इस विश्वास के प्रकाश में अपने को कसना श्रीर संभालना श्रावश्यक है।



# ः ६ : श्रपरिग्रह



I

t

ŧ

### सब छोड़ो

धर्म वह जो धारण करता है। उत्पत्ति को, विनाश को, श्रीर उन दोनों से युक्त श्रुव को वही धारण किये हुए है। श्राणु श्रांखल के साथ श्रीर पिएड ब्रह्मायड के साथ जिस सूत्र के एहारे श्रामिन्नता में पिरोया हुआ है वह है धर्म। स्थिति में गांत श्रीर गति में स्थित यदि सम्भव है तो धर्म के कारण । जो है उसके होने में कारण-भूत धर्म है।

इससे जो धर्म से छुटी चाहते हैं वे धर्म शब्द से नाश्ज हो सकते हैं, पर धर्म-तत्त्व से छुटी कमी किसी को मिल नहीं सकती। यहाँ तक कि नास्तिक अनजाने नास्तिकता को अपना धर्म बना बेठता है। पश्चिम का उपयोगवाद और समाजवाद चर्च से या देवमंदिर से छुटकारा पाले, पर यह भूलता है यदि मानता है कि इस तरह धर्म से ही वह बच जाता है। मंदिर, मस्जिद और गिरजे को तोककर उसकी जगह पाठशाला या अस्पताल बना देने से धर्म नहीं टूटता, केवल एक देवता की जगह अनजान में दूसरे देवता की ही प्रतिष्टा करदी जाती है। पश्चिम का नया धर्म है शासन-धर्म। उनका देवता है स्टेट। उस स्टेट-देव की पूजा में जो आहुति पड़ी उतनी बिल युग-युगाँत से दूसरे किसी देवता पर नहीं चढ़ी होगी। पर इस आधुनिक देवता को कुछ वहाँ में कितने प्रभूत नर-रक्त का अमिपक मिला और कितने असंस्थ नर-मुं को की अर्चना, इसका हिसाय नहीं है। मापा के फेर से असिलियत में फेर नहीं पड़ जाता। इसलिए असुक शब्द पर रोम करने की आवश्यकता नहीं है। धर्म नहीं मिटा, नहीं

मिट सकता, इसका सीधा कारण यह है कि होते हुए परिवर्तनों के मध्य वह शुव है। वह उस चिन्मय सिद्धान्त का नाम है जो जीवन की अभि-व्यक्ति ख्रोर उसके विकास को साधता है।

बीच-बीच में जो सुधार के या विनाश के आन्दोलन हुए वे धर्म को नहीं, धर्म के अपलाप को, उसके व्यभिचार को सुधारते या मिटाते थे। असल में वे उन समयों में प्रचलित लोकरूढ़ धर्मामासों के बीच सत्-धर्म को प्रतिष्टित करने के हेतु से हुए थे।

ऐसा जो धर्म उसी की ग्राहमा हमारे शास्त्रों में जगह जगह गायी गयी. थी | जहां धर्म है वहां च्रेम है | धर्म सम्पदा है | धर्म के करा से भय का पहाड़ टलता है | धर्म की रचा का हाथ जिस पर है वहीं सुरांच्त है | इस्यादि |

मेरे लिए सन्तमुन धर्म से गहरा शब्द दूसरा नहीं है। हमारे जीवन में कई स्तर हैं। हमारी भाषा के श्रिषकांश शब्द उसके व्यावहारिक स्तर से नीचे नहीं जाते। वे निस्प्रित के स्थूल व्यापार तक ही संगत हैं। जीवन-मर्भ उनके सहारे छुश्रा नहीं जा सकता। किन्तु धर्म शब्द स्थूल व्यवहार से शुद्ध श्रथ्यात्म तक सब स्तरों में एक सा व्यापक है। मृद् बनचारी काले पत्थर पर सिंदूर पोतकर श्रपना धर्म का काम चला लेते हैं। वार्शनिक हवा से भी वारीक वर्शकियों में उतरकर धर्म की थाह नहीं पाते। यही मेरे निकट उम शब्द की विशेषता है। वह सब को सुलम है, फिर भी श्रयाध पारिडत्य के बल से भी उस शब्द की संभावनाश्रों को चुकाया नहीं जा सकता। इसी से उसकी जगह दूसरा कोई शब्द स्वीकार करने में मुक्ते क्तिक्त है। पश्चिम से कई इज्म चले हैं श्रीर नये-नये भी निकलते जाते हैं। ये जीवनादर्श के लिए नई नई संशाएँ गढ़कर प्रेश करते हैं। कोई धर्म की जगह ह्यू मेनिटी (Humanity) कोई यूटीलिटी (Utility) कोई फ टरनिटी (Fraternity) कोई-लिवर्टी (Liberty) विश्वबंधल (World Brotherhood) श्रादि-श्राद संशाश्रों को प्रतिष्ठित करना चाहते हैं। मेरे मत से इन

शब्दों में समाई थोड़ी है। ये अधूरे हैं, ओछ पड़ते हैं, ओर बहुत जल्दी उनको किसी विशेषण के सहारे थामने की ज़रूरत हो जाती है। ये शब्द हमें एक-दूसरे से जोड़ते भी हों, समिष्ट के साथ उनके सहारे योग बनना नहीं हो सकता। व्यक्ति समिष्ट के प्रति जिस अभिन्नता का संवेदन भीतर लेकर जन्म पाता है वह धर्म से नीचे किसी और शब्द से व्यक्त नहीं हो सकती।

इस तरह यदि मैं कायल हूँ तो एक शब्द का और वह है धर्म। लेकिन जहां कोई नाश्तिकता नहीं पहुँची वहाँ गीता की यह पंक्ति जाती है:—

#### सर्वं धर्मान्परित्यज्य मामेकं शरखं वज

धर्म नहीं ख़ूट सकता, फिर भी गीता ने कहा कि उसको भी छोड़ दो। किसके लिए छोड़ दो १ मेरी शरण में आने के लिय। 'मैं' कौन १ 'एकम्' जो एक हूँ। सब (धर्मों) को छोड़ो, एक (मुक्त) को लो।

धर्म के विवेचन के बीच गीता की इस पंक्ति को कभी नहीं भूलना होगा। इस पंक्ति के सार को भूलकर धर्म को पकड़ने से अधर्म हाथ लग सकता है।

हम तो जानते थे कि जो अखितेश है, जो एक है और सर्वव्यापी है, धर्म जितने हैं उसी की राहें हैं। पर गीता ने कहा कि उन्हें भी छोड़ने की उधत रही। मुक्ते पाना है तो उन्हें छोड़ना होगा।

ध्यान रहे कि यह नास्तिक का बचन नहीं है। नास्तिक का साहस यहाँ तक पहुँच नहीं सकता। वह बेचारा तो अपनी नास्तिकता के धर्म से बंधा है। गीता का यह बचन मुक्त-पुरुप का बचन है। श्रीर उसमें जो सस्य है वह इन्हीं शब्दों में श्रा सकता है, क्यों कि वह भाषातीत है।

आज जबिक पश्चिम से शंका का प्रवल मोंका आया है, जब आहंकृत बुद्धि सब आदशी को चीर-फाड़ कर अद्या को असम्भव बना देना चाहती है, तब घम के मानने वालों को जैसे चुनौती ही दी जाती है। पश्चिम को उन्हें जवाब देना होगा। जवाब तर्क का काफी नहीं होगा। क्योंकि तर्क से तो शास्त्र भरे पड़े हैं। श्रीर पश्चिम उन सब शास्त्रों को श्रपनी श्रलमारी में बन्द दिखला सकता है। जवाब इसलिए जीवन से ही दिया जा सकता है। श्रीर मैं मानता हूँ कि जो सच्चा धार्मिक है, यानी 'मामेक' के प्रति जिसका समर्पण सम्पूर्ण है, उसका जीवन पश्चिम को चुप करने बाला जवाब हो जायगा।

गीता की यह वाशी कि रब धर्मों को छोड़ो श्रीर मुक्ते लो, प्रवल्ते से प्रवल संदेहवादी को भारी पड़ सकती है। वह इसको नहीं पचा सकता। वह तथा-कथित संदेहवादी श्रीर बुद्धिवादी असल में श्रपने माने हुए मत-विश्वासों से चिपटा हुश्रा है। गहराई से देखा जाय तो वह श्रपने मोह में कहीं श्रधिक श्रंध है। वह अद्धा नहीं है इसी से उसे मोह कहना पड़ता है। वह तो ईश्वर विश्वासी ही है, जो श्राने को श्रथाह में छोड़कर कह सकता है कि मैं कुछ नहीं मानता क्योंकि में उस एक को ही मानता हूँ। वैज्ञानिक सत्य की, श्रथवा श्राध्यात्मिक सत्य की, उपलब्धि के लिए यदि कोई व्यक्ति श्रधिकारी श्रीर समर्थ हो सकता है तो वही जो कह सके कि मैं सब छोड़ दूंगा; लो, मैंने सब छोड़ दिया! यह शिक्त श्रपने को बुद्धिवादी, शंकावादी, कहनेवाले लोगों में हो कैसे सकती है श्रिसल में वे श्रमुक मतवादी ही नहीं होते प्रत्युत श्रमजान में उस मत को श्रपनी कहरता में 'पंथ' बना लेने वाले होते हैं।

यहाँ एक बात की क्रोर ध्यान दिलाया जा सकता है। गीता में धर्म को छोड़ने के लिए नहीं कहा, धर्मों को छोड़ने के लिए कहा है। बहां बहुबचन का प्रयोग है। यानी श्रमुक नामों से चलने वाले श्रथवा श्रमुक वर्गों द्वारा माने जानेवाले जो श्रमेक धर्म प्रचलित हैं, वे श्रपने आप में मान्य श्रीर हष्ट होकर भी एक स्थित में जाकर मानो पीछे छूट रहनेवाले हैं। जिसमें द्विधा है ही नहीं उस एक धम की राह में, द्वेत श्रीर श्रानेकता पर चलने वाले श्रानेक धमों को बीच में ही छूट जाना होगा। गीता के मंत्र का यही श्रामिप्राय है।

में मानता हूँ कि ज़ाहिरा जो धर्म के नाम पर विषमता, श्रनवन श्रीर कलह देखी जाती है उसमें नाम ही धर्म का है। श्रमल में तो उसके भीतर कारण राजनीतिक होते हैं। राजनीतिक से मतलब स्वार्थ-प्रोरत। क्योंकि ध में तो सदा स्वार्थ का विसर्जन ही होता है। गीता में ही नहीं सब धर्मों में ऐसे वाक्य मिल जायंगे। परन्तु फिर भी यदि धर्म के नाम पर गिरोह-बन्दी श्रीर वैमनस्य मिले तो जान लेना चाहिये कि मूल धर्मादेशों के प्रति श्रमावधानी ही उसका कारण नहीं हैं, यिनक गहरे में दुबका हुश्रा कहीं निश्चित स्वार्थ ही उसमें कारण बना हुश्रा है। जिसके सहारे गुष्ट या गिरोह थाम कर रखे जाते हैं, गीता में ऐसे नाम धारी धर्मों को ही छोड़ने के लिए कहा गया है।

सन्य यह है कि प्रमु एक है। उसको परम पिता कहें तो भी उसकी निकटता हम पूरी तरह जतला नहीं सकते। वह भीतर रमा हुआ है। वह घट-घट ज्यापी है। वह पिता है, माता है, बन्धु है। जो कहो उसके लिए थोड़ा है। वह एक है, क्यों कि वह कुल है। उसके सिवा प्राणी को कुछ और नहीं पाना है। उसको पाना भी भापा की अपूर्णता के कारण कहना होता है। वह अलग भी नहीं है कि उसे पाने कहीं जाना हो। सन्न पूछिये तो उसमें स्वयं खो जाना है। वह एक ही साथ परमात्म लाम है। आत्मा तो दो हैं नहीं। इस तरह थोप में अपने को पाना और अपने में शोप को देखना, यही परमात्म प्राप्त की साधना है।

मेरे निकट तो यह स्पष्ट है कि किस तरह इसी साधना को इस में समाज सेवा, राष्ट्रसेवा, मानव सेवा इत्यादि सामयिक श्रीर ऐहिक सब कर्तव्य ग्रानायास समा जाते हैं। यह साधना लौकिक कर्म से विमुखता नहीं वतलाती, प्रत्युत लोककर्म की दत्त्ता देती है— ''योगः कर्मसु कौशलम्''

किन्तु योग में कर्म-सुकीशल श्रपने श्राप में इए नहीं है. वह तो उसका श्रानायास प्राप्त फल है। योग में यदि व्यक्ति की श्रोर से चेष्टा है, तो वह सीधे समाज के राष्ट्र के या मनुष्य के प्रति नहीं है; बल्कि समग्रता ख्रीर एकाग्रता के साथ परमारमा के प्रति ही है। ईश्वर में कौन सा समाज कोनसा राष्ट्र कौनसा इतिहास ऐसा है जो समाया हुन्ना नहीं है। सचराचर जगत सब उसकी भाँकी ही तो है। हाँ उस कल्पनातीत विराट् के समज्ञ वह फांको श्रास्यन्त स्वल्य है। श्रीर सचमुच जितना कुछ इम जानते हैं, जान सकते हैं, कल्पना में ला सकते हैं, कुछ उससे बाहर नहीं, उसी का श्रंश है। इसलिए धर्म की भाषा यह नहीं कहती कि समाज के लिए मरो, देश के लिए मरो, वह तो कहती है कि यशार्थ जीख्रो । अर्थान् यश के लिए तो नुम हो ही, स्रोर कुछ सम्मय ही नहीं है। पर उस यज्ञ के समर्थन के लिए समाज, या राष्ट्र, या विश्व को क्यों अपने अहंकार की बुद्धि से खींच कर लाते हो। यज का धर्म तो मैंने ही तुम्हें दिया है। मैंने जो तुम्हें जीवन दिया है, उसके पीछे तुम्हें विश्राम देने को मेरी भेजी मौत भी श्रा ही रही है। सो इस तरह मेरे हाथों आज भी तुम मरने के लिए ही उद्यत हो रहे हो। पर वह मरना नहीं, मुक्तमें व्रम्हारा लीट श्राना है। इसलिए तुम्हारा इसके सिवा कुछ भी श्रीर कार्य नहीं रह जाता कि तम मेरी ही याद में जीख्रो कि मुक्त में खशी से लीट खाखा।

हमारी लोकिक बुद्धि, तर्क बुद्धि, शायद इस बात को नहीं समभः सकती । उसे बिलदान के लिए छुटि-मोटें नारे चाहिये । राष्ट्र चाहिये, इनिक्षलाय चाहिये । यशार्थ जीवन अपने आप में कम सम्म में आता है; क्रांति माट समभः में आ जाया करती है। पर लौकिक बुद्धि को भी इसमें दोप क्या दें, वह अपने वस तक ही चल सकती है। यह धर्म की भाषा को समक्त की भाषा से बदलना चाहती है। वह अपने लिए ऐसा कर सकती है—यानी सामयिक आदशों की भो उपयोगिता है। पर प्रयोजन की भाषा से अनुभूति की भाषा जब कि भिन्न होती है, तब सदा गहरी और सच्ची भी होती है। तिनक रहस्यमयी-सी तो लगे पर उसमें गम्भीर और प्रचुर अर्थ भरा रहता है। वह इतिहास के युग-युग में जातियों और संस्कृतियों को रेरणा देती है। वह तो मानवजाति की अन्तय थाथी है। इससे समक्त में न बंधने पर भी उसे अद्धा से स्वीकार ही करना पड़ता है।

धर्म की वाणी स्वरूप से श्रास्प,स्थूल से सूदम, पदार्थ से श्रास्मा श्रीर जगत् से ईश्वर की श्रोर बढ़ती है। हम जिन कई धर्मों को श्रपनी तुनिया में जानते हैं—जैसे हिन्दू-धर्म, बौद्ध-धर्म, ईसाई-धर्म, इस्लाम-धर्म—वे भिन्त-भिन्न रूप में श्रारूप काल, परिस्थित, श्रीर देश में उस निराकार सर्वव्याप्त के श्राक्लन के प्रयास हैं, जो मानव-जाति के श्रान्त:करण में बहुत गहरे में बसा हुश्रा है। विविधता देश श्रीर काल की पृथकता के कारण उनमें श्रायी, पर बह एक ही सबका लक्ष्य होने से खन सब में श्रन्तांत एक-स्त्रता भी है। पर जहाँ उन सबमें व्यापा हुश्रा वह सूत्र दिखाई न दे वहां व्यक्ति क्या करे १ इसके लिए गीता ने कह ही दिया;—इसको भी छोके, उसको भी छोके, श्रीर दोनों जिसके लिए बने हैं इस 'मुक्त' को ले। वह 'मुक्त' है, परमेरवर। दर्शन की भाषा में उसे ही कहें परम-सत्य। श्रीर गीता की उस नीति को में श्रमनी श्रोर से संज्ञा द तो वह है, श्रहिंसा।

#### दिगंबर

मनुष्य श्राता है तो वस्त्र साथ नहीं लाता। जाता है तब भी वस्त्र उसके साथ नहीं जा जाते। वस्त्रों का उपयोग इतके बीच के काल के लिए ही है।

वस्त्र का समर्थन दो प्रकार के कारणों में है, एक दैहिक, वूसरा सामाजिक । वस्त्र सदीं-गर्मी से हमें बचाते हैं और लज्जा ढँकने के काम स्राते हैं ।

दैहिक कारण का जहाँ तक सम्बन्ध है वस्त्र की उपयोगिता सापेद्य है। सर्दी-गर्मी तो ऋतुप्रभाव से श्राते ही हैं। फिर भी शीत से बचने के लिए किसी को कम श्रीर दूसरे को ज्यादा कपड़ों को श्रावश्यकता होती है। पशु-पत्ती विना कपड़े के ही काम चलाते हैं। जंगली लोग, या जंगली श्रवश्था में सम्य लोग, छाल श्रीर खाल से काम लिया करते थे, उनके शरीर की सहिष्णुता श्रीर अनुक्लता श्रीधक थी। पशु-पित्यों का शरीर ऋतुश्रों के प्रति श्रनायास भाव से श्रिधक सहिष्णु है श्रीर प्रकृति उन्हें इसमें मदद देती है। मनुष्य में शनैः शनैः दैह की इस स्मता का हास होता गया है। ऋतुश्रों को श्रव वह श्रपने खुले तन पर सहन नहीं कर सकता। धू। श्रीर हवा से बचने के लिए उसे वस्त्र की श्रावश्यकता है।

इसी को दूसरी भाषा में सम्यता का विकास कहते हैं। उस विकास के साथ देह का हास हुन्ना है। मनुष्य, कहते हैं, उस विकास में उत्तरोत्तर सामाजिकता प्राप्त करता गया है। श्रीर सच पूछिये तो वस्त्र की श्राव-श्यकता के पीछे, दैहिकता उतनी नहीं जितनी कि सामाजिकता कारण है। ऋतु ता नग्न तन पर सह भी ली जाय, पर सम्यता तन को नग्न नहीं रहने देती है। यस्त्र इस तरह सदीं-गर्मी के लिए कम श्रीर सम्य व्यवहार के लिए ही श्राधकतर श्रावश्यक है।

यों भी दीखता तो यह है कि आज की सभ्यता मुख्यता से वस्त्र पर टिकी है। बढ़िया कपड़े सामाजिक उच्चता के लच्चा माने जाते हैं। वहत्र में कीमत डालने के लिए सोने और चाँदी के तार बिने जाते हैं, चाहे उनका स्पर्श तन को तिनक भी सुखकर न होता हो।

इस वस्त्रमयी लौकिक सम्यता को गहराई से समम्प्रना चाहिये। तब जान पड़ेगा कि उसके जड़ में कीड़ा है। वहाँ सामाजिकता की सिद्धि नहीं बिल्क शीपण की दृद्धि है।

सामाजिकता निःसन्देह व्यक्ति के विकास के लिए श्रावश्यक है। मिल-जुलकर ही यहाँ काम चल सकता है। सहयोग सदा अनिवार्य है। व्यक्ति एक पैदा हुश्रा है, पर इसलिए कि यथासम्भव किसी के भी प्रति. वह दूसरा न रहे। तभी सूत्रकार ने कहा—''परस्परीपप्रहोजीवानां'। एक दूसरे के काम श्राना जीव का लच्च है। मनुष्य के इस स्वभाव में से सामाजिकता को जन्म मिला।

इस सामाजिकता के उदय के साथ वस्त्र का उदय हुन्ना। पशु-पत्ती वस्त्र की त्रावर्यकता से मुक्त हैं, क्योंकि उनमें सचेष्ठ सामाजिकता नहीं है। उनमें लज्जा और मर्यादा की मावना ही नहीं है। वे स्वच्छन्द हैं। मनुष्य मर्यादाशील प्राणी है। उसका समाज है, जिसमें श्रेणियाँ हैं, जोटे वहे हैं, मान संभ्रम है। मनुष्य समाज में सबके ऋषिकार बराबर नहीं हैं, कर्तव्य मेद से उनके ऋषिकारों में मी मेद है। उनमें परिवार मावना है श्रोर सम्बन्धों में दायित्व और पवित्रता की कल्पना है। शिचाकम से उनमें गुरुशिष्य का मेद्र हैं श्रोर एक चरण क्रुता दूसरा माथे पर हाथ रखकर उसे आशीर्वाद देता है।

यह जो मर्यादाशीलता का उद्भव श्रोर विकास है, यही क्या मनुष्य जाति की श्रिजित संस्कृति श्रीर सभ्यता नहीं है ! इसी के साथ वस्त्र की संस्था ने विकास पाया है ।

इस दृष्टि से वस्त्र के विरुद्ध कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। वह लोक जीवन के लिए अनिवार्य है। उससे मर्यादा-शीलता और शुचिता का रक्ष्य होता है। वह वासना पर आवरण है। पर नहीं, वस्त्र वहीं तक नहीं रहा है। वासना को ढंकने नहीं, दिखाने या बढ़ाने तक का साधन वह होने लगा है। वस्त्र की संस्था इधर आकर तो अब रोग की गांठ ही हो पड़ी है। कारण है मेरी समक्त में हम मनुष्यों का समाज को अपनी परिधि मान रहना और समष्टि-दृष्टि को भूल बैठना।

समाज को परिधि मानकर चलना मेरी दृष्टि में भ्रांत है। मेरा मानना है कि उसके कारण इमने बहुत रोग अपने बीच बसा लिये हैं श्रीर सभ्यता अपनी मौलिक आवश्यकता से दूर पड़कर इतनी कृत्रिम होती जा रही है कि बह पाखंड बन उठी है। आवश्यकता है कि उस सम्यता को फिर अपने मूल आदर्श से जोड़ा जाय और उसे स्वस्थ किया जाय।

समाज में मान श्रीर मान्यता प्राप्त करना यदि उन्नित का लच्य हो तब तो बस्त्र को श्रावश्यक रूप में इसका साधन बनाया ही जायगा। तब मनुष्य की चेष्टा वस्त्र की संस्था को जिटल बनाने में लगेगी। यहाँ तक कि वह एक समस्या श्रीर शोषण का केन्द्र बन रहेगी। लोग हर ख्या नया फैशन निकालेंगे श्रीर बीते ख्या का फैशन पुराना पड़ जायगा। नतीजा यह होगा कि लोग उस दौड़ में वस्त्रों का ढेर पास रखकर भी यह एंतोप न रख सकेंगे कि वे काफी श्राधुनिक हैं। हर कपड़ा ख्या चलने के साथ पुराना पड़ता जायगा श्रीर नये की माँग होती जायगी। ढिजाइन श्रीर कट के नये-नये श्राविष्कार होंगे श्रीर जाने कितने न लोगों की बुद्धि इसी में लगी रहा करेगी। इसके कारण दूसरी श्रोर वस्त्र का श्रकाल होगा श्रीर लाज श्रीर शीत से तन ढकने को भी वे सीयझा न पायंगे।

यह चमक-दमक की श्रासुरी सम्यता होगी श्रीम वहाँ वभव के शिखर श्रासमान को चूमना चाहेंगे, हीरा-मोती श्रीर सोना-चाँदी से वस्त्रों को मढ़ा जायगा, कि उधर श्रानेक नंगे रहें, जिन्हें रहने को ठीर श्रीर खाने को कौर न हो!

यह सम्यता आदमी को परिग्रह के संचय में सुख दिखायेगी और आन्तस्थ सहानुभूति और आहिंसा की भावना को चूसती जायगी। मनुष्य तब अपने स्वार्थ में रत होकर शोपक बनेगा और श्रपने को सम्य मानेगा।

सामाजिकता को श्रान्तिम समर्थन श्रीर उसी को चरम धर्म मानकर चलने में यह खतरा है ही। भौतिक दर्शन उसी में हमें ला पटकता है। ध्रागर दीखने वाला पदार्थ ही सच है तो उसका भोगोपभोग जीवन का चरितार्थ बनता है। तब पदार्थ मात्र भोग्य होता है श्रीर मनुष्य उनका भोका ठहरता है। इस वृत्ति में से स्वार्थ को महत्व मिलता श्रीर संपदा-श्राडम्बर का संचय होता है।

किन्तु मैं मानता हूँ कि सामाजिकता से घिरी इस वृत्ति में सच्ची समाजिकता का बीज नहीं है। समाज में उससे वियम अंथियाँ पढ़ती हैं। विरोधी स्वाथों को लेकर उमसे वर्ग, समूह, श्रीर सस्तनतें बनती हैं जो श्रपनी श्रष्टंता में दूसरों से स्पर्का ठानती हैं। इससे विश्रह श्रीर विस्कोट को जन्म मिलता है।

वे लोग जो लौकिकता की परिमाण में ही धर्म को देखते हैं जाने अनजाने इस स्वार्थ-विग्रह की आंच में ईंघन पहुँचाते हैं। अतः आवश्यकता है कि उस आदर्श को हम सदा स्मरण में रक्खें जो समाज पर आकर नहीं स्कता, आगे समिष्ट तक जाता है; जो अपनी अनुमृति में मानवेतर समाज को भी बैसे ही अपनाना चाहता है जैसे मानव-समाज को।

समाज के लिए वस्त्र आवश्यक है, किन्तु समष्टि के पन्न में उस बस्त्र का मला क्या अर्थ रह जाता है ! सूर्व क्या पृथिवी के प्रति अपने को दक ले, या पृथिवी सरज से घूं पट ले ले श्रियाकाश के चमकते तारे, बहती वाय, खला आकाश, मामते पेड और तरंगित सागर-क्या ये सब भी वस्त्र स्रोढे स्रोर पहनें ? तब वह पुरुष ही मला कैसे ऋपने को कपड़ों में मंदे कि जिसे उन सबसे रसलीन श्रीर समस्वर हो रहना है। दिगंत व्यापी श्रांबर उसे श्रांबर है। कपड़ा, जो तन को भूप के स्वास्थ्य श्रीर वायु की थपक से वंचित रखता, क्यों उसके लिए श्रावश्यक है ? जिसे वायु के साथ बहना श्रीर धूप के साथ खिलना है, जिसके प्राण श्रपनी व्याप्ति में कोई परिधि नहीं मानते और लोकांत को छए बिना जिसकी सहानुभति चैन न पायगी-पेसा महा ऋहिंसक पुरुप किससे बचने की कपड़े पहते ? जिसे सब के प्रति खुल रहना है, सब को अपने में ले लेना है, वह कैसे बस्त्र का व्यवधान सहे ! क्या वस्त्र ऋतुश्चों से श्लीर सत्यताश्चों से श्लपने को बचाने का निमित्त ही नहीं हैं ? क्या वह भीति का प्रतीक ही नहीं है कि जिसका सामाजिक रूप लज्जा श्रीर दैहिक रूप सर्दी-गर्मी है। लेकिन वह कि जिसमें निखल के प्रति प्रीति है, जो ऋतुत्रों का खाह्यान करता है, श्रीर प्राणी मात्र के प्रति जिसका हृदय् करुणा से खुल पड़ा है, उसमें किसके प्रति भीति शेष रहे कि बस्त्र की आवश्यकता हो ?

यह दिगम्बरता का स्नादर्श स्रसामाजिक नहीं है, यद्यपि सामाजिकता से सीमित नहीं है। सामाजिक होकर मानव प्राची समाप्त नहीं है। स्नपने जैसे दूसरे मानवों के साथ संपर्क साधकर ही वह परिपूर्ण नहीं हो जाता। स्नागे भी उसकी संमावनात्रों को विस्तार पाते जाना है। उसे वनस्पति से, वायु से, पृथिवी से, जल से, ऋतुक्रों से भी सामंजस्य प्राप्त करना है। उसके लिए जगत् मानव जाति तक परमित नहीं है, समूचे ब्रह्माण्ड के प्रति उसमें निमंत्रचा है। ऐसा पौरुषमय पुरुप समाज से पार, समिष्ट में मिलने का प्रयासी दीखता है, स्नौर, मानव को ही नहीं, निखिल जगत को उसका स्नारसदान प्राप्त होता है।

यह मुक्ति का ब्रादर्श है। यह ब्रादर्श उपयोगिता की सीमा

रेखात्रों से त्रागे जाता है। यह लोकोपकार की भाषा की पकड़ में नहीं त्राता त्रोर ब्रात्मकैवल्य की भाषा ही इसे छूपाती है। कारण, लोक तो भी ससीम है, श्रात्म ही ग्रसीम है। जिसने ब्रात्म को पाया उसे कुछ पाने से न रहा। जिसने अपने तई कुछ न रखा उसने सकते सब देकर सबका सब पा लिया। यह ब्रात्म-साधना श्रीर श्रात्म-मुक्ति का श्रादर्श सब्चे लोक-कल्याण का प्रकाशक है। नहीं तो उपयोगिता-वादी समाज-दर्शन श्रीर तदनुसारी लोक-प्रवृत्तियाँ सन्वाई में विशेष लोक-मंगल नहीं साध पातीं। कारण, जहां वे मानतीं लद्य वहां नहीं उसके पार है, श्रीर मानव-समाज पर सत्य समाप्त नहीं, सत्य उससे बड़ा श्रीर ब्यापक है।

जो दृष्टि सामाजिकता से सीमित है वह दिगम्बरता के आदर्श को नहीं समभ सकती। लेकिन स्पष्ट है कि समाज की सत्ता इतर सृष्टि से स्वतन्त्र नहीं है। विज्ञान बताता है कि कैसे सहस्रान्दियों के अन्तराल में मानव को जन्म मिला और उसमें नाना चेष्टाओं ने विकास पाया। वह बताता है कि किस प्रकार मानव शेप सृष्टि से अलग नहीं, उसका अंगमूत ही है। मानव-इतिहास और मानव-सम्यता ब्रह्मास्ट की शेष प्रक्रिया से अलग होकर सम्मन्न नहीं होते। मानव-चेष्टा विश्य-व्यापी विराट कर्मचक्र का एक अंग ही है। उससे उिक्रन्न होकर उसका मूल्य कुछ मी नहीं रह जाता।

यह समिष्टिमूलक दृष्टि धर्म की है। उसका श्रारंभ-विंदु त्रात्म-चेतना है। उस चेतना को परमात्म-चेतना में रूपांतरित करना है। व्यष्टि को समिष्टि होना है। इस साधना के मध्य में ही सामाजिकता श्रा जाती है। व्यष्टि अपने को समिष्ट में लीन करने की साधना में श्रनायास उत्तरीत्तर सामाजिक होता जाता है। उसका श्रहंकार शांत होता और उसकी सहदयता प्रसार पाती जाती है। हिंसा से वह श्रहिंसा की श्रोर बढ़ता है। यहाँ तक कि श्रपने लिए वह कुछ नहीं रहता, कुछ नहीं रखता, श्रीर श्रात्यन्तिक श्रपरिग्रही बनता है।

श्राज श्रभाव की समस्या है। समभा जाता है कि उतादन से वह दूर होगी। पर उत्पादन की कमी से वह पैदा नहीं हुई, वितरण की विपमता के कारण वह बन श्रायी है। इससे उत्पादन के गुणानुगुणित करने से भी वह तब तक दूर नहीं होगी, जब तक वितरण की व्यवस्था समीचीन नहीं होगी। श्राज तो तृष्णा का श्रन्त नहीं है। जो जितना पा जाय थोड़ा है। इससे कोरे उत्पादन बढ़ाने से इसके सिवा श्रीर क्या होगा कि जिनके पास बहुत है वह श्रीर बहुत हो जायगा श्रीर जिसके पास कम है वह उससे भी कम रह जायगा। श्रारे, उद्योगीकरण से यही तो हो रहा है। करोड़पति श्रारदिन दिख बन रहा है। प्रचुरता श्रीर श्रभाव दोनों साथ-साथ बढ़ रहे हैं।

ऐसे समय दिगम्बरता का ही श्रादर्श काम श्रा सकता है। वह श्रापरिग्रह-धर्म का चरम उत्कर्ष है। श्रावश्यकता बदाकर रहम समस्याएं भी बदाते ही हैं। इस तरह बंधन बदता है श्रीर मोख हटता है। लखपीत श्रीर करोड़पति, राजा श्रीर सम्राट्, क्या श्रपने लाख-करोड़ श्रीर राज-सम्राध्य के स्वामी होने के बहाने कैदी ही नहीं हैं १ क्या वे श्राजाद हैं, कि जैसे पच्ची श्राजाद होता है १ क्या उनका बैभव जकड़ श्रीर बड़प्पन बोम्त भी नहीं है १ श्रीर इधर संत है कि सब धर उसे समान हैं, सब जन उसके श्रापने हैं, श्रीर कोई परिधि उसकी श्रातमा पर बाधा बनने के लिये नहीं श्रा पाती है।

श्रपरिम्रह का यह श्रादर्श जितना श्रानिवार्य है उतना दुर्गम भी है। धन्य हैं वे कि जो उस तक पहुँचते हैं। वे, कि जिनके लिये वह साधना महीं श्रानायासता है। वे सचमुच मेरे लेखे धन्य हैं कि दिगम्बरता जिनकी श्राहिसा की श्राभिव्यक्ति है।

अमरीका और जर्मनी आदि देशों में नग्नता के प्रयोग हुये हैं। पाया गिया है कि दैहिक और मानसिक स्वास्थ्य के लिए नग्नता गुण्कारी है। लेकिन विचार का वह धरातल मेरे लिये अमस्तुत और अविचारणीय है। जिस दिगम्यरता के श्रादर्श की वात ऊपर कही, उसकी भूमिका एकदम भिन्न है। वह श्राध्यादिमक है। कैवल्य की दिगम्बरता स्वास्थ्य के शोकीन नागरिक की नग्नता नहीं है। तीर्थक्ककरी दिगम्बरता में श्रिहंसा की, हृदय की, श्रपार करणा की श्रिमिव्यक्ति है। उसमें श्रमाव तो है ही नहीं, एक परिपूर्णता है। उसमें शौक या श्राग्रह नहीं है, एक श्रान्तिक श्रमिवार्यता है। श्राकाश को किस श्रातिरिक्त वस्त्र की श्रावश्यकता है? उसी तरह धूप को श्रीर चाँदनी को, दिन को श्रीर रात को, किस श्रावरण की श्रावश्यता है? वह उन्हें नियम नहीं, निजता है। इसी तरह दिगंबर केवल-स्थित का वेश है। श्रतः उस दिगंबरस्व के पद्म में साधारणतल के तकीं की संगति मुक्ते तिक भी नहीं दीखती है। मेरा भानना है कि विदेशों की नग्नता के प्रयोग किंचित् श्रसामाधिक प्रवृत्ति के स्वक हैं, जबिक सच्चे योगी की दिगम्बरता का श्रादर्श विश्वजनीन हित साधना में से ही प्राप्त होता है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि आदर्श का मूल्य स्वतन्त्र है। वर्त-मानता की त्रुटि उस पर आरोप बनकर नहीं आ सकती।

## अपरिग्रह और ट्रस्टीशिप

एक भाई ने अपरिग्रह की बात उठाई। कहा कि संस्था के लिए भी धर्म अपरिग्रह क्यों न हो ? ब्यक्ति के पास बचा हुआ धन नहीं चाहिए, तो संस्था के पास की क्यों चाहिए ? महीने के खर्च से ज्यादा होना ही गलत। उपयोगी और प्रिय बनकर जो जीयेगा उसे साधन की जिन्ता न रहेगी। संस्था के लिए भी इस नीति में अपवाद नहीं हो सकता। आगे से हम वर्ष की प्राप्ति को वर्ष में ही खर्च कर देना सोचते हैं, कुछ भी बंचा नहीं छोड़ना चाहते। इसमें इमारी अद्धा की परीचा होगी और जड़ता को जमने का अवकारा न रहेगा।

यह माई सांस्थानिक हैं श्रीर उनकी वात मुक्ते श्रव्छी लगी। पर निश्चिन्तता मुक्ते नहीं हुई। पूछा, 'देखिए श्राप शाला चलाना चाहते हैं। उसके लिए जगह कहीं तो होगी। वह होगी भी किसी की। वह प्रेम से मिलेगी या दाम से। श्रय जगह या मकान तो परिग्रह ही है। श्रपरि-ग्रह में उसके साथ क्या करना होगा ?'

भाई को वह प्रश्न शायद बेकार तक मालूम हुन्ना। उन्हें प्रतीत हुन्ना कि धन इसी तरह किसी-न-किसी चोर-मार्ग से हमारे विचार में घुस स्नाया करता है। उससे स्नमर्थ होता है। संस्था स्थापित-स्वार्थ हो जाती है। यानी, संस्था का स्वयं एक स्वार्थ बन स्नाता है। इस तरह न्य्रपरिग्रह की कठोर चौकसी से चले बिना गित नहीं। स्नावश्यक खर्च निकलते ही स्नाना है। नहीं स्नगर निकले तो मोह क्या, प्रयोग ही तब क्रोड़ देंगे। इत्यादि। भाई में उत्साह था। पास पैसा भी था। ऋपने ऋादर्श भाव में वह निःशंक थे। इस सबसे मेरे मन में प्रशंसा का उदय हुआ।

यह बात बम्बई की है। बम्बई घन की नगरी है। निर्धन अञ्चल तो वहाँ पहुँच नहीं सकता, पहुँचे तो उसका पता नहीं चल सकता। यानी हम दोनों वहाँ अपरिग्रह की बात चला सके, तो इस आधार पर कि धन नीचे था। धन बिना बम्बई पहुँचते कैसे १ कंद-फल-मूल जहाँ तरसते हैं कि कोई उन्हें स्वीकार करे, ऐसे वन में तो इम थे नहीं। आज ऐसा वन कहीं बचा है इसका भी निश्चिय नहीं। इसलिए जान पढ़ा कि अपरिग्रह की बात धन की है, धन के कारण वह धमें है।

अपरिप्रह में मुफे आस्था है। हो भी कैसे नहीं। कारण, किसी को, कुछ को मैं अपना कहूँ तो वह टिकेगा कब तक ? लाया मैं क्या साथ था, और ले भला क्या जा सकता हूँ ? जिन्दगी का सफर अकेला है और वे साथ। इसलिए 'मेरा यह' और 'मेरा वह' मानना अम ही है। अम पोस सकता हूँ, पर के घड़ी ? अन्त में तो उसे टूटना है। इससे पहले से अम न रखना क्या समकदारी नहीं है ? अपरिप्रह, यानी 'मेरा नहीं'। इस 'मेरे' के भाव को हम कम से सब कहीं से उठा लें तो उसे अपरिप्रह की सिद्धि माननी चाहिए। जितना ज्यादा मेरा होगा उतना मैं विखरा और उलका रहूँगा; जितना कम रहेगा उतना स्वतंत्र और स्वस्थ रहूँगा। यह बात सीधी है और अमोब है।

पर फिर भी दिक्कत होती है। उस दिक्कत को पकड़ना है, टालना नहीं है।

धर्म आतमा की चिन्ता करता है और उसी ओर से चलता है। आतमा क्या, यह कहते नहीं बनता। कहने चलते हैं, तो नकार की भाषा हाथ रह जाती है। जो है, वह नेति है। इससे धर्म की माधा विधि-निषेध की हो जाती है। वहाँ निषेध द्वारा विधान करना है, अन्यथा विधि बनती ही नहीं। सत्य से, बहा से, या उस प्रकार के निर्गु शास्मक स्वयं-भाषी किसी दूसरे शब्द से श्रागे चलते ही नकार शुरू हो जाता है। जैसे श्राहिंसा, श्रापरिग्रह, श्रस्तेय, श्राकोध श्रादि।

'श्र' निश्चय ही यहां सूचक मात्र है। हिंसा का श्रमाव श्रहिंसा नहीं है, न वस्तु का श्रमाव श्रपरिग्रह है। ऐसा हो तो धर्म श्रमावात्मक हो जाय। 'श्र' श्रमाव का नहीं, मापा की श्रसमर्थता का द्योतक है। यह जान लें तो धर्म का रूप बदल जाता है। संसार से तरने के साथ स्वयं संसार को तारने की शक्ति बन जाता है। तब वह प्राण-वेग को मुक्त करता है। समस्या से बह बचता नहीं, उसके हुदय में जाता है श्रीर वहाँ से उसे परिष्कार देता है।

श्रपरिप्रह नया धर्म नहीं है। चिन्मय होकर नया वह हो भी कैसे सकता है १ वह तो सनातन है। लेकिन जिस श्रपरिप्रह पर तीर्ध द्वर निर्जन बन में दिगम्बर हो रहे, रंचमात्र श्रावरण श्रपने ऊपर नहीं हो सके, उस श्रपरिप्रह से श्राज के युग के गाँधी जी का श्रपरिप्रह नया है। दिगम्बर की, जगह श्रपरिप्रह में यहाँ ट्रस्टी होना है।

गांधी जी का दिया हुआ 'ट्रस्टी' शब्द मानों अवसर की रच्चा करता है। अपरिग्रह वादी की बात भी रह जाती है और परिग्रह वाले की ममता पर भी जैसे आघात नहीं पड़ता। वामपच्च विचारक इसीलिए उस शब्द की खिल्ली उड़ाता है। दिच्चिया पंथ का विवेचक भी उससे सहज अतुम्त रहता है। यह 'ट्रस्टी' (संरच्चक) शब्द दोनों के सन्तोष और असन्तोष का कारया है। इस शब्द की ओट में सारा पूँजीवाद सुरिच्चत रखा है, ऐसा साम्यवादी का अमियोग है। उधर ध्येयवादी भी, जो तप में तृष्ति खोजता है, इस शब्द में मोग के प्रवेश के लिए द्वार खुला देखता है।

फिर भी इस शब्द को सहसा हमें फेंकना नहीं है। पूँजी जिसके पास है वह पूँजी का अभिमोक्ता न होकर सिर्फ अभिभावक होगा, यह बात तब तक कैसे मानी जा सकती है जब तक निजी सम्पत्ति का ही कानूनन लोप न हो जाय र और निजी सम्पत्ति का निमूलन यानी सम्पत्ति का समाजी- करणा। इस विचार-घारा का मन्तव्य है कि आतमा की ओर से चलकर वात को व्यक्ति के मन पर छोड़ देना पड़ता है और यहीं सब चीपट हो जाता है। नहीं, उसे व्यवस्था की ओर से लेना और बाकायदा कानून का रूप दे देना होगा। यह साम्यनादी विचार-घारा है, जिस में बात को भावनाश्रित नहीं छोड़ा जाता। उसका कहना है कि ऐसे तो हर अन्याय से पूँजी बटोरकर ट्रस्टी शब्द के सहारे सकुशल बने रहने की गुंजाइश है, या कि आगे बढ़कर फिर दानी, दयालु और उपकारी बनने तक का मायाचार चल सकता है। नहीं, साम्यवाद वैसा अवकाश न देगा। वह व्यवस्था ऐसी चौकस करेगा कि जिस में दान के नाम पर संमह न हो सके।

स्पष्ट है कि सम्यवादी की तर्क-म्ट खला में कहां कोई कड़ी दीली नहीं है। गुद्ध म्रास्महि से तो वह सारी कड़ी तर्कश्रत्य ही है। कारण, उस हिष्ट में जगत् माया है, मिथ्या है। वस्तु-मात्र 'पर' है, म्रीर उसकी प्रतीति छलना है। उस म्रथं में म्रपिग्रह पर यह सोचने का जिम्मा ही नहीं कि म्रास्म से शेष म्रनात्म का क्या होता है। किन्तु म्रास्म के प्रति जो म्रनात्म है, क्या वह परमात्मा के प्रति भी म्रनात्मीय ही है ? तव तो परमात्मा के म्रतिरक्त भी दूसरी सत्ता को मान लेना होगा। यदि परमात्मा है ही वह जो म्राहत है; जिसमें जो है सब है; काल एवं म्राकाश, जो मेदवीध में निमित्त है, स्वयं जिसमें होकर हैं; तो मानना होगा कि 'स्व' म्रीर 'पर' की भाषा 'स्व-पर' में ऐक्य साधने की हिष्ट से ही है। उसका भी सापेच मूल्य है, नितान्त में भेद नहीं है।

यों देखें तो आत्म की ओर से यदि दृष्टि है, तो दर्शन वस्तु की ओर से है। द्रष्टा और दृश्य का एकीमान दर्शन हैं। इस रूप में अपरिप्रहृक्ती कृतार्थता वस्तु से अञ्जूते रहने में नहीं है, वस्तु के मध्य खुले रहने में है। यानी वह, जो अपरिप्रह के प्रति 'अ' से आरंभ करके उस 'अ' पर ही समाप्त होता है, मुक्ति साधम नहीं कर सकता। 'अ' पर बल देने से वह बल अपने आप परिप्रह पर भी जा पक्ता है। यह आन्तरिकः

श्रनिवार्यता इतिहास की इस घटना में घटित देखी जा सकती है कि श्रपिश्रह पर सब से श्रिधिक श्राग्रह रखनेगाली जाति, यानी जैन, मानों लगभग निरपवाद भाव से श्राज वैश्य वर्गी है। श्राधुनिक जैन का व्यवहार-धर्म संग्रह है, क्योंकि श्रातिरिक्त बल से उसका श्रादर्श-धर्म श्रसंग्रह है। जैन नागरिक धनी श्रीर श्रनगारी दिगम्बर (तक) हैं। इस विरोधामास के मर्म में जाने से ऊपर की बात साफ हो जानी नाहिए।

श्रपरिग्रह में जब मुख्यता से हम परिग्रह समक्ते जानेवाले पदार्थ से श्रपनी श्रात्मरचा खोजते हैं, तब श्रमजान उसकी पदार्थता को, जड़ता को, हम महत्ता पहना रहे होते हैं। यह सम-भाव के लिए बातक स्थिति है। स्वस्थ चेतना पदार्थ से बचने की नहीं सोच सकती, बल्कि उसकी सृष्टि श्रीर उसकी संघटना में लगती है।

इस तरह परिग्रह के विचार को वस्तु के उत्पादन श्रीर निर्माण के साथ चलाने की आवश्यकता श्रीर उपयोगिता प्रकट हो आती है। सब कुछ मेरा हो यदि यह मेरी वृत्ति है, तो मेरा कुछ न हो यह मेरी साधना की दिशा हो सकती है। पर जगत् की समस्या है कि क्या, कितना, किस-किस का है। श्रपरिग्रह इस समस्या के निपटारे में यहाँ तक तो श्रानिवार्य सहायता करता है कि वह मुन्ते स्वयं में दावेदार होने से बचाकर एक तार के कसाव को कम करता है। श्रयांत् वह मुन्ते मेरी समस्या में उत्तीर्ण करके जगत की समस्या को स्वीकार करने योग्य बना देता है। किन्तु उससे श्रागे जैसे उसका श्र-कार काम नहीं देता, श्रागे जिसको परिग्रह माना उसी पर-पदार्थ की समीचीन व्यवस्था का प्रश्न श्राता है। जाहिरा वह पदार्थ में श्रयंलग्न नहीं, संलग्न होने का प्रश्न है। गहरा देखें तो वह प्रश्न भी श्रपरिग्रह-धर्म का ही रूप है। मेरी श्रंतरंग-निवृत्ति ही उस प्रकार की प्रवृत्ति में मुन्ते बल दे सकती है। श्रन्यथा पदार्थ की श्रोर से मुँह मोक्कर साथी जाने वाली श्रपरिग्रही निवृत्ति सुन्तमें श्रंतर्भूत प्रवृत्ति की जड़ों को जुन्ध श्रीर श्रन्ततः। उद्देश्ड ही करने वाली है।

में चीज न रखूँ, इसमें चीज कहीं जाती नहीं, चीज की व्यवस्था का सवाल व्यों-का-त्या पड़ा ही रहता है। श्रोर में श्रगर उससे पंचित हो कर श्रपने को कृतार्थ श्रोर उस चीज की श्रपेता में श्रपने को एकान्त बना लेता हूँ, तो उस चीज को लेकर पैदा होने वाली श्रव्यवस्था को काटने में मैं श्रसमर्थ बनता हूँ। ऐसे नागरिक श्रीर सामाजिक दायित्व से मैं च्युत होता हूँ। श्रव कोई श्रादमी नहीं जो श्रसामाजिक ठहर पाये। साधु-सन्त बल्कि श्रिषक ही सामाजिक होते हैं। मेरा परिवार इना-गिना हो, साधु को तो वसुधा कुदुम्ब है। इसल्लए श्रपरिग्रह को पदार्थ की श्रपेता में समभक्तर केवल नकार को साधने चलना वायित्व से बचना है।

इसीलिए श्राध्यात्मिक के प्रति-पत्त में सामाजिक दृष्टिकोण को जन्म लेना हुआ। सम्पत्ति समाज की मानकर उसे श्रपनी मानने से मैं सहज उट जाता हूँ। समाज की है, इसमें यह तो गर्मित ही है कि वह मेरी नर्हा है। ऐसे श्रपरिग्रह समाजवाद के पेट में ही रखा है। श्रपरिग्रह की संगति समाजवाद से भी आगे है, यह बताने के लिए श्रपरिग्रह को समाजवाद-वाले प्रश्न का हल करने श्रागे श्राना होगा।

समाजवादी दृष्टिकोण लेकर चलनेवाला दर्शन तो विज्ञान भी बन गया। विज्ञान से भी श्रागे वह राजनेताश्रों के व्यवसाय का पथ-प्रदर्शक बन गया है। उसने विशुद्ध तर्क-गण्ति से जमा फैलाकर बता दिया है कि सब कुळ समाज का है, श्रीर इस सत्य को इस प्रकार संगठन में लाना होगा। समाज का श्रनुशासन शासन-संस्था में मूर्त होगा, श्र्यांत् स्वस्य सब राज्य में केन्द्रित होगा। व्यक्ति तव 'मैं' श्रीर 'मेरे' से सहज छूट जायगा। व्यक्ति की शक्ति श्रीर चेष्टा इस भांति समाज-हित में व्याप्त होकर कृतार्थता प्राप्त करेगी।

"सम्पत्ति १"

"सम्पत्ति सब राज्य की होगी। स्वयं व्यक्ति राज्य का होगा।"
"राज्य क्या होगा ?"

"वह सर्वहारा-वर्ग का श्रिधनायकत्व (डिक्टेटरशिप) होगा।" "सर्वहारा-वर्ग क्या !"

"वह वर्ग जिसके पास सम्यत्ति के नाम पर सिर्फ अम है। अस धन की आत्मा है। वह सम्मत्ति का वास्तविक मृत्य है। इससे राज्य शुद्ध अमिक-वर्ग का आधिपत्य होगा। और सम्यत्ति अम की घरोहर के रूप में राज्य के हाथ होगी।"

हम देखें कि इस समग्र तर्क-शुद्ध रचना में श्रापरिग्रह की हानि कहीं नहीं है। श्रीर श्र-काराग्रही श्रापरिग्रह इसके समज्ञ कदाचित् मीन श्रीर निरुत्तर हो जा सकता है।

फर भी हानि है। कारण, वह सिर्फ नक्शा है। नक्शे की नदी में नहाया कभी नहीं गया। राज्य एक धारणा है, जैसे कि नक्शे की नदी धारणा होती है। धारणा के साथ व्यवहार आसान होता है। समूची गंगा नक्शे में हमारे अँगूठे के नीचे आ सकती है, जब कि सुम्म से लाखों जनों को लाखों वर्षों से गंगामाता अपनी गोद में सुलाती चली आ रही है। इससे राज्य का भी यथार्थ-मानव यथार्थ से कुछ मिन्न नहीं हो। एकता। नाम बदलने से ही काम नहीं चल जाया करता। मैनेजिंग एजरड हायरेक्टर हा जाय, या हायरेक्टिंग किमश्तर या सुपरवाईजर, या किमस्सार—स्थित में अन्तर तभी आयेगा जब उन नामों से सत्ता और धन के संचय पर बैठा हुआ आदमी लोभी की जगह त्यांगी होगा। किताब का कानून उस वक्त ज्यादा मदद नहीं करेगा। आदमी के मन में तृष्णा बैठी होगी तो तंत्र का शब्द उसे व्यर्थ नहीं कर पायेगा। इससे व्यवस्था का प्रश्न यद्यपि गणित का प्रश्न है, किन्तु अन्त में उसका मानव से संबंध है। इससे वह हृदय की, अर्थोत् धर्म की, मावा से अळूता नहीं है।

गाधी जी का शब्द 'ट्रस्टी' इसी जगह इमारी सहायता करता है। धनिक बन के साथ पूरा न्याय करना चाहता है, तो उसे यथार्थ में श्रापिश्रही वनना होगा। धन के प्रीत न्याय, श्रार्थात् उसका भरपूर हितोपयोग, श्रापिराह में श्राता है। श्रात्मा की उपासना का श्रार्थ धन की अवहेलना नहीं है। धन समाज-शरीर का रक्त है। उसके निरन्तर श्रीर सम-प्रवाह पर ध्यान न रखना श्राहिंसा नहीं, हिंसा है; श्रापिश्रह नहीं, मूर्ज़ा है। सोनाचाँदी धात हो एकते हैं जो सिर्फ वोभ्फ हैं, लेकिन श्रादमी की शारीरिक श्रीर मानसिक श्रीर श्राय श्रावश्यकताश्रों की पूर्ति से जुड़े होने के कारण उनके श्रार्थ का विज्ञान उतना व्यर्थ श्रीर मिथ्या नहीं है। श्राज के दिन यदि श्रपरिग्रह में सार है तो तभी जब वह उस पर प्रभुता पा सके जिसे कि परिग्रह माना है, उसे श्रास्मभूत श्रीर श्रास्म-साधक बना सके।

श्रपरिप्रही ही उस व्यक्ति को होना है जो श्राज सार्वजनिक धनसोती के मुहाने पर है। आज का वह व्यक्ति अपरिग्रही नहीं होगा तो कल कोई अपरिप्रही उसकी जगह लेगा। कुछ और सम्भव नहीं है। भोग गिरेगा श्रीर उत्सर्ग ही उठेगा । सार्वजनिक ट्रस्ट, जवतक ट्रस्टी अपरिग्रही न होंगे, केवल सार्वजनिक नास उत्पन्न करेंगे। हकुमत स्वयं एक सार्वजिनिक ट्रस्ट है। फीज श्रीर कानून उसे वहाँ नहीं रोक सकते. सिर्फ अपरिग्रह रोक सकता है। आर्थिक जिस की दृष्टि है, श्रर्थ की न्यवस्था उसे नहीं सींपी जा सकती। श्रर्थ में उसे मान होगा. लोभ होगा, श्रीर इस तरह वह लोक-मानस में विषमता लाने का कारग हो जायेगा। श्राज का धनिक वही है, पहले का धनिक वह न था। पहले ष्टिष्टि में धन नहीं, सिर्फ व्यवहार में था: दृष्टि में धर्म था। पहले धनिक समाज-शरीर में उस गाँठ और गिल्टी के मानिन्द न था जो रक्त-विकार को अपने अन्दर रोक कर फूलने लगती है। अर्थ की समुचित व्यवस्था के लिए दृष्टि नैतिक नहीं ऋार्थिक चाहिए, यह मिथ्या प्रवाद छाया हुमा है। पश्चिम के राज-दर्शन और श्रर्थ-दर्शन ने यह बहुम फैलाया है। उसकी श्रव काटने की जरूरत है श्रीर उसके लिए ऐसे नीतिनिष्ठ पुरुषों की जरूरत है जो उसी ग्रनासक भाव से धन से व्यवहार करें, जैसे भंगी मलमूत्र से करता है । मलस्त्र के सम्बन्ध में ग्रापरिमह नहीं सिखाना होता, विल फउलटे

यह बताना होता है कि खाद तो सोना है, फेंकने के नहीं, संग्रह करने के याग्य है। धन के अपरिग्रह में भी धन की उपयोगिता श्रीर धन के समीचीन व्यवहार की शिद्धा गर्भित होनी चाहिए।

श्चर्यवाद, श्चर्य के सम्बन्ध में, श्चादमी को तृष्णालु श्चोर ईपीलु वनाकर पहले श्चन्यवस्था उपजाता है। फिर पाटीं-गठन श्चोर पाटींकान्ति श्चीर श्चन्त, में राज्यवाद में जा समाहित होनेवाला है। यहाँ हठात् उन श्चर्यार्थी श्चांत्यों हतना रोमांस भर दिया जायगा कि उनका बाकी सब दर्शन, सब स्वप्न में राज्य के प्रति लुप्त हो रहे। श्चर्य की तो समस्या है, समाधान सिर्फ नीति में है। समस्या को श्चार्थिक जानकर समाधान को भी श्चर्य में खोजना खुजाने से खाज मिटाने जैसा है।

श्रारिग्रह श्रात्म का श्रस्त है। इसी से उसका उपयोग, उसका प्रभाव, अनात्म के प्रति है। अर्थतंत्र अर्थार्थियों से चलकर उल्रुक्तन और बन्धन उपजाने वाला है। स्रात्मार्थी तब क्या ऐसा हो सकता है, जो ऋर्थतंत्र चलाये ? हाँ, हो सकता है; श्रीर हो, तभी त्राण है। गांधी जी का कीरा मजाक न था जब वह कहते थे कि मेरी कई दुकानें चल रही हैं। सचसूच दुकान की तरह श्रपने रत्वनात्मक संवों की पाई-पाई का वह ध्यान रखते थे। करोड़ों रुपया लोगों का लेकर श्रपनी दुकानों में लगाने में उन्होंने श्रप्यात्म की जति नहीं देखी। बहिक इसी में से सत्य-रूप-परमेश्वर की सच्ची उपासना का उन्होंने लाभ अनुभव किया। अपरिप्रह ही उन्हें करोड़ों के फंडों का संचालक पनने दे सका । ऐसे उन्होंने धन को धन्य किया, देने वालों को भी धन्य किया ब्रीर उन लाखों श्रमिकों के हक को उन तक पहुँचाया जो श्रपनी सब तपस्या भूलकर मान रहे थे कि वे दरिंद्र हैं। ऋपरिग्रह की लगन गांधी जी में इतनी तीव रही कि अपने को मिल सकनेवाली एक पाई से भी वह वेमख नहीं हुए । अपरिग्रह का उनके निकट अर्थ था कि धन शहर से हात की श्रोर वह उठे, उसी लाचारी से जिससे वादल का पानी धरती भर बरसता है। धन धरती का है, धरती में पसीना डालने वालों का है।

वह धरती से उठकर जाता है श्रीर वापस धरती में उसे पहुँचा देने में कहीं किसी का उपकार नहीं है, केवल सब की क्वतार्थता है।

समाज का श्रीर घन का विशान श्राकां ज्ञा र तृप्णा के नियमों से चले श्रीर श्रातमा का श्रीर नीतिका श्रम्यास उससे विमुख निवृत्ति श्रीर निकर्म की रेखा पर चले, तो जीवन के इस समानान्तर बिलगाव से कभी कुछ, न होगा। ऐसे विस्सोट पास श्राएगा श्रीर युद्ध उमरेगा, क्योंकि नीति श्रीर शक्ति तव परस्पर विरुद्ध दिशा में समान बल से खिंचकर एक श्रून्यावस्था उत्पन्न करेंगी। उस श्रून्य को मरने के लिए यू-एस-एसवाद श्रीर यू-एस-एस-श्रारवाद श्रपने-श्रपने तोहफे लेकर यहाँ श्रा धमकेंगे। इससे समय है कि समग्र समन्वय की भारतीय संस्कृति में से, जिसके प्रतिष्ठाता गांधी जी श्रे, इम श्रपना ध्रादेश प्राप्त करें श्रीर उद्योग की योजनाश्रों को श्रध्यास्म की योजनाश्रों से कदम-ब-कदम मिलकर चलाएँ।



ः ॰ ः स्फुट

ţ

.

#### भारतीय जनतंत्र

भारत ने अंग्रेजों की अधीनता से छुटकारा पाते ही अपने लिए विधान-सभा की योजना की। उस समा को भारतीय आतम-सभा के संस्थान का रूप स्थिर करके देना था। यह स्वरूप स्थिर हो गया है, और भारत ने २६ जनवरी सन् '५० के दिन से एक जनतंत्र के रूप में दुनिया में अपनी जगह ते ली है। भारत ने स्वाधीनता महात्या गांधी की राह से, अर्थात् अर्हिसक विधि से, प्राप्त की है। इसलिए विश्व में अपनी जगह लेने का अर्थ भारत के लिए विश्व की सेवा में अपना आतमदान देना ही हो जाता है। उसकी सत्ता, जो न संख्या की ओर से न संस्कृति और संकर्ण की आंर से हीन है, किसी के लिए शंका और आतंक का कारया नहीं हो सकती। सब के लिए उसमें अभय और आश्वासन ही है।

स्वतन्त्रता देशों को यों ही नहीं मिल जाया करती है। जाने कितना उसके लिए खून बहाना पड़ता है, श्रीर श्रवसर यह एक गहरे हैं व की परम्परा छोड़ जाती है। राष्ट्र कोई जब उदय में आता है, तो उसका राष्ट्रवाद दूसरे राष्ट्र की प्रतिशोध-भावना पर अपनी नींव बाँधता और उसी से श्रपने को मजबूत करता है। पर महात्मा गांधी, जो भारत देश को ही प्राप्त हुए, श्रानीखे हृश ये। उनके नेतृत्व में विश्व के इतिहास में पहली बार एक समृत्वे महादेश ने अपनी राजनैतिक स्वाधीनता इस तर प्राप्त की कि परिखाम बैर नहीं हुआ, मेल हुआ। भारत और ब्रिटेन, जो मालिक और गुलाम ये, गुलामी की कड़ी दूटने पर परस्पर खिंचे और

विगड़े नहीं रहे, बल्कि साथी और मित्र बन गये। इतिहास की यह ऋदितीय घटना है, और इस दृष्टि से भारत निश्चय ही अपने दंग का अनुठा देश है।

निःसन्देह भारत विभक्त हुआ और विभाजन में कर समानुपिक घटनाएं घटों। यह सचमुच भारत के भाल पर घट्या है, भारतीयता की यह एक हार है। किंतु हार तो टिकनी नहीं है, इसलिए भारतीयता की सफलता के लिए वह एक चुनौती है। भारत आरंभ से, मानो मानव-जाति की ग्रोर से, समन्वय-नीति की प्रयोगशाला होकर रहा है। भारत का सारा इतिहास धर्म की एक प्रयोग-गाथा है। सब कहीं चाहे राजनीति चले, भारत धर्मनीति का चेत्र रहा है। इस नाते विभाजन और उससे उत्पन्न हुई कद्वता एक वह कलंक है, जिसको भारत की श्रात्मा धोये विना नहीं रह सकती। फिर भी वह आपस की बात है, और भारत के श्राहसक 'राष्ट्रयुद्ध' की एक दुवेलता यद्यपि उससे प्रकट होती है, उस युद्ध की मौलिक सफलता में कोई संदेह नहीं है।

श्रहिंसा पर राजनीति कहाँ तक चल सकती है, यह श्रभी प्रयोग श्रीर परीच्या का ही विषय है। महात्मा गांधी का तो दर्शन राष्ट्र से नहीं, श्रहिंसा से परिभाषा पाता था। यानी राष्ट्र के लिए हिंसा जरूरी पड़ती हो तो भी वह स्वयं श्रहिंसक रहते, फिर चाहे राष्ट्र-शत्रु ही समभे जाते। सच पृष्ठिए तो एक चुस्त हिंदू राष्ट्रवादी ने राष्ट्र-शत्रु समभक्तर ही उनकी हत्या की। किन्तु हिंदू शब्द गांधी जी के लिए उससे श्रधिक पवित्र था। वह श्रहता नहीं, उनके लिए श्रात्म का, सामयिक राष्ट्र नहीं, सनातन संस्कृति का बोधक था। हिन्दू शब्द समग्र धर्म-जीवन का द्योतक है, वह मतवाद-रूप नहीं है। वह देश-धारणा से वैधा नहीं है, इसलिए राज्य या राजनीति से भी सीधा उसे सरोकार नहीं है। श्रात्म-नीति, जो मानव-नीति श्रीर इसलिए सच्ची जगत् नीति भी है, वह उसके लिए नियम है। वह शास्वत है, इसलिए वही सामयिक भी है। महातमा गांधी इसी श्रर्थ में

हिन्दू थे, ग्रीर मानना होगा कि सच्चे हिन्दू वही थे। इसी सनातन श्रादर्श के रूप में वह भारत का भावी निर्माण देखना चाहते थे।

गांधी धार्मिक थे, पर कांग्रेस राष्ट्रीय थी। गांधी का नेतृत्व बह ले सकती थी, उनसे प्राण् श्रोर शक्ति ले सकती थी। पर घम उसका धर्म न था। वह राष्ट्रीय से श्राधिक नहीं हो सकती थी। राष्ट्रीय होकर चाहै तो श्रान्तर्राष्ट्रीय भी हो जावे, लेकिन राजनीति से गहरे संस्कृति पर जाना उसका काम न था। श्राहेंसा उसके लिए श्रद्धा नहीं, उपयोगिता थी।

श्रंग्रेज गये तो देश की बागडोर उस कांग्रेस के हाथ श्राई | यानी, शासन का, नियमन का, दंढ श्रोर पुरस्कार का काम एक दायित्व बनकर उसपर श्रा गया | उस जिम्मेदारी की देखते हुए श्राहेंसा-नीति की बात उतने व्यवहार श्रोर तस्काल की उसके लिए नहीं रह गयी, ठीक जैसे कि महात्मा गांधी ही तब उसके लिए नित्यप्रति के काम की दृष्टि से उतने श्रानिवार्य नहीं रह गये, बल्क चाहे कुछ श्रव्यन भी बन गये | तभी हुश्रा कि १५ श्रगस्त को, जब सब कहीं धूम-धाम थी, खुशियाँ थीं, श्रोर रोशनी थी, बापू नोश्राक्ती के गाँवों में श्राप श्रक्ते, पाँव-पाँव-धूम नहें थे | कांग्रेस के लिए खुशी का कारण था कि देश श्राजाद हुश्रा था; बापू के लिए शोक का कारण था कि वैर फूटा हुश्रा था | कांग्रेस श्रीर गांधी श्रामिन्न न थे | एक पर राज्य का काम श्राया था, दूसरे को सेवा ही सदा का एक काम था |

वुनिया, उसका वह भाग जो अपने को गिनती में लेता है, मानो गहरे संकट में है। संकट का जितना निदान होता है, उतना इलाज होता है; और जितना इलाज होता है, उतना हाल विगक्षा दीखता है। मालूम हाता है कि वह बुद्धि जो संकट को पाने और टालने चलती है, वह हिष्ट ही रोगाकान्त है। राजनीतिक, जिनपर संकट को काटने का सीधा बोम है, राज्यों की भाषा में सोचते है और उनमें ही परस्पर संशय है। तब वे प्रयस्न उलटा परिखाम लाते हों, तो क्या श्रवरज ! राजनीति के होत्र में जनतंत्र का श्रादर्श सबको मान्य है। हम मानवजाति के प्राणी श्रपने साथ प्रयोग करते ही श्राये हैं, श्रोर इस नतीजे पर पहुँचे हैं कि प्रजा से निरपेद्ध होकर राज नहीं चल सकता। श्रर्थान्, राज्य स्वयं प्रजा का हो तभी चल सकता है। प्रजा का हो, यह तो समभ्द में श्राता है; फिर भी राज्य होने के लिए यह श्रावश्यक है कि कोई उसमें नीचे होने के लिए प्रजा श्रवश्य हो। श्रर्थात् राज्य में शासक श्रोर शासित ये दो पाट, दो वर्ग, रहने ही वाले हैं। राजनीति का यह प्रयत्न है कि पाट दो रहें, फिर भी विग्रह न हो।

पर विप्रह तो होता ही रहा है। युद्ध इतिहास का स्तर है। एक पर एक युद्धों में से गुजरते हुए हमने राजतंत्र को प्रजातंत्र बनाना आवश्यक मान लिया है। अर्थात् तंत्र तो होगा, और वह अन्त में राज्य के लिए ही होगा, लेकिन प्रजा की ओर से वह बने। प्रजा की ओर से, यानी चुनाव के जिर्थे प्रजा की अनुमति और उसके प्रतिनिधि लेकर।

इस 'प्रजा की श्रोर से' के सूत्र को निविध मात्राश्रों में श्रीर विविध क्यों में श्रमल में लाया गया है। प्रजाजन के श्रमुक्ल राज्य होना है यह यद्यपि श्राज सबको मान्य है, फिर भी सब देशों की राज्य-पद्मतियाँ श्रपनी-श्रपनी हैं श्रीर एक-दूसरे से मिन्न है। उन भेदों के श्राज दो सुख्य वर्ग बन गये हैं, एक डिमोक सी दूसरा डिक्टेटरशिए। कहीं राजा है, कहीं प्रेजीडेंट है, कहीं मार्शल है, कहीं कुळ दूसरा नाम है उसका जो शासन' के शीर्ष पर है, लेकिन सब तंत्र मुख्यतया इन दो वर्गों के नीचे हकट्टे हो जाते हैं। दोनों में कहीं भी जनता की, यानी प्रजाजन की श्रवहलना है, ऐसा नहीं कह सकते; बिल्क दोनों श्रारं दावा है कि जनता का हित श्रीर सुख ही उनका प्रधान लक्ष्य है। डिक्टेटर यदि है, तो वह जनता के प्रेम में से बनता है। बिल्क वह तो कड़ी है, गारंटी है, जो राज को प्रजा के हित समर्पित रखती है। जनता, यानी श्रिकैंचन वर्ग। सां वह

डिक्टेटरशिप 'प्रालतारियत' की यानी नितांत जनता की है।

वह ठीक हो, पर महात्मा गांधी राज्य के श्रादमी नहीं थे. क्योंकि इदय के थे। उन्होंने तंत्र की बात इसलिए लगभग की ही नहीं। उन्होंने राजनीति को 'रामराज्य' जैसा शब्द दिया। 'राम-राज्य' क्या वैज्ञानिक ऋर्थ में जनतंत्र है ? वया उसमें राजा के लिए ग्रायकाश नहीं है ? लेकिन ग्रंत की श्रोर तो राम नाम की धुन श्रीर रामराज्य की टेक गांधीजी में श्रीर बद गई। प्रतीत हुआ कि 'राम-राज्य' में तंत्र की दृष्टि से जैसे अपना दुळ अर्थ श्रीर त्राप्रह ही नहीं है. उसका विधान से संबंध ही नहीं है। मानो वह केवल भावना का बना है। राम कौन-जो सब में रम रहा है। ऐसे वह विशुद्ध जनतंत्र है। लेकिन राज्यासन पर कोई श्रादमी न बैठे. या पैत्रिक नहीं निर्वाचित ही बैठे. या इतने ही वर्ष के लिए बैठे. ब्राहि क्क भी उसमें विधि-निषेध नहीं है। सिर्फ इतना है कि 'रामराज्य' के साथ यह अपेचा, अमोध और अनिवार्य होकर, आदमी के मन में जड़ गई है कि उसमें अन्याय को स्थान न होगा; न भूख होगी, न गरीबी; सब श्रपने कर्त्तव्य में तत्पर होंगे श्रीर दूसरे के प्रति स्नेहशील; सब भरपूर देंगे श्रीर यथावश्यक मात्र लेंगे । यह जिसमें हो, फिर उसका तंत्र श्रीर रूप जो हो, वह 'रामराज्य' है। श्रन्यथा तंत्र जो भी हो, हमें उसे रामराज्य के ब्रादेश की दिशा में बदलते ब्रीर उठाते ही जाना है। राजनीति के विज्ञान के लिए 'रामराज्य' शब्द पर्याप्त नियत श्रीर नियक्त नहीं है, वह हवाई है, भावक है। फिर भी वह जनता की भाषा का है और राजनीति को उससे मुक्ति नहीं है। जनता के मन की उस कसौदी पर तंत्र कसे जायेंगे और खरे होने पर रहेंगे, नहीं तो फेंक दिये जायेंगे।

गांधी जी ने एक दृष्टि इसको दी। एक तरह से वह राज्य को खत्म करने की है, दूसरी ख्रोर से वह राज्य को मजबूत श्रीर अमोध बनाने वाली भी समभी जा सकती है। वह यह कि शासक सेवक हो जाये। राजा सेवक हो और प्रजाजन सेव्य । राजन्यजन तब सेवाधमीं होंगे, इसलिए वे शेप से ऋषिक संयमी, अपरिप्रही, संतापी श्रीर तत्पर होंगे। इसी कारण वे प्रजाजनों के लिए सदा अपने से ऋषिक सुख-सुविधा जुटाकर ही मानेंगे। जनता मालिक बनेगी और राजकमीं चाकर होंगे। शास्त्र में नहीं, व्यवहार में ऐसा होगा, अर्थान् सेवा-कर्म के अभ्यासी निःस्वार्थ, अहिंसक साधकों पर राजकर्म आयगा जो तब भत्य-कर्म होगा।

मृत्य-कर्म में जाने के लिए छीना-भपटी भला क्यों होने लगी ? वैसा यदि नहीं है, श्रोर यदि राजकाज सेवा नहीं प्रभुता है; पद है, वहाँ प्रतिष्टा है, धन है, सत्ता है, तब हर किसी की श्राकांचा उधर क्यों न दी है ! अयोग्य की श्रोर भी अधिक, क्योंकि श्राकांचा अयोग्यता का लच्च ए है। तब अनिवार्य है कि एक कुर्ती को अनेक चाहें, श्रौर एक को इसी शर्त पर वह मिले कि शेष उसके प्रतिस्पर्दी होकर शत्रु बन जायें। श्रीर वह एक यदि उस पद को वोटों से पाये, तो यह मुविधा उसे तभी होगी जब लोगों के मनों में वह प्रत्याशित मोगों के सपने जगा दे श्रीर उनकी प्राप्ति का मरोसा जमा दे। इसी श्रावश्यकता में से चुनाव के बड़े-बड़े घोषणापत्र श्रीर पार्टी-प्रचार श्राता है। ऐसे श्राकांचा, स्पद्धीं श्रीर ईध्यी-मासर्य का एक माया-जाल रच उठता है, जिसमें राज्य जकड़ जाता है।

जनतंत्र लाचार है कि चुनाव से चले। चुनाव में से दल फूटते ही हैं। वे दल अन्त की बोर मुख्य दो रह जानेवाले हैं। एक पदस्थ, दूसरा अपदस्थ, यानी विरोधी। अब यदि कोई अपने बारे में निःशंक है तो वह देश की भलाई की दृष्टि से सोच सकता है कि विरोध का श्रीर विरोधी का होना ही जनकल्याण में सबसे बड़ी बाधा है। तब उसका कर्तव्य हो जाता है कि विरोध को, अगर वह हो तो, निमूल करदे और फिर इतनी सुदृद्द व्यवस्था करे, और ऐसा प्रचार करे, कि लोकमत उसके हाथ एकमत होकर ही जी सके, दूसरे मत की संमावना ही न रहें। इस परिणाम के आने में कही कोई तर्क की ुट नहीं रहती है! अतः देखने में भी आता है कि जनकांतियाँ सदा डिक्टेटर उपजाती रही हैं। क्यो और कैसे यह होता है, समता और स्वतंत्रता से सम्राट् कैसे निकल आता है, यह समभत्ना मुश्किल नहीं होना चाहिए। आकांचा में से चलकर हम विभूति के पूजक हुए बिना रह नहीं सकते है। विभूति का अम जो भी हमारे मन में अपनी वाणी से, प्रचार से, या कहे जानेवाले पराक्रम से जगा देता है, हमारी पूजा का पात्र बनकर बही हमारे अपर छत्रदंडधारी रूप में विराजकर हमें धन्य करता है। इम देखे कि आकांचा के रास्ते संघर्ष, संघर्ष से संख्यावल, उससे हिंसक पराक्रम और विभूति-महिमा, और उस रास्ते से ऐश्वर्यशाली अधिपति सम्राट् का आविभीव हो आता है।

जनतंत्र इस तरह यदापि श्राज सर्वमान्य है, पर श्राज ही के दिन बह सबसे श्रीक खतरे में भी है। क्योंकि श्राज जनमानस में श्रंत-निरीच्या गहरा है। मोहाकांचा श्रव अपेचाकृत कम है, वैशानिक द्वित श्रीक है। धर्म, भावकता से निर्कामता, भय से निर्भयता श्रीर-वैयानिकता से समग्रता की श्रोर फैल रहा है। शब्दों के साथ लगा विश्रम श्राज यथार्थ पर परखा जाता है। सपने आदमी के इतने टूटे हैं कि उन्हें पोसते श्रव वह घवराता है। स्वप्न मात्र की जैसे उसमें श्रश्रद्धा वस गयी है। श्रद्धा को गयी है श्रीर श्रश्रद्धा को मानों विधिवत संगठित कर लिया गया है। श्रश्रद्धा का गयी है श्रीर श्रश्रद्धा को मानों विधिवत संगठित कर लिया गया है। श्रश्रद्धा का श्रीर स्वतन्त्रता स्वच्छंदता बन जाती. श्रीर इस हद तक जा सकती है कि शिक्त श्रपने ग्राप में प्रिय हो श्राये । यह श्रवस्था है जिसमें सेनावाद और पंक्तिवाद पनपता है। तब बंधन उपजते हैं, जो इस्पात के होने से मोहक होते हैं। श्रीर उन इसाती. बेहियों का स्वामी हमारे राप्ट्रीय ऐश्वर्य का प्रताप-प्रतीक वनकर श्रित- शय त्राकप के हो उठता है। इस खतरे को बचाना है श्रीर बाहरी श्रातु-शासन से श्रिधिक भीतरी शिस्त, पुँचानी चरित्र, को उन्नत श्रीर गठित करने की श्रीर ध्यान देना है।

गांधीजी इसलिए डिसोक़ सी में तांत्रिक की जगह हार्दिक श्रर्थ डालना चाहते थे। भारत के राम दशरथ के पुत्र होने के कारण ही चाहे राजा बने, पार्टी लीडर होने के कारण नहीं, फिर भी एक सामान्य भोबी की बात को वह श्रनसुना नहीं कर सके। जनमतस्त्रक उस एक व्यक्ति की बात पर सीता-बनवास-जैसे मर्मान्तक श्रात्मवियोग से उन्होंने श्रपने को नहीं बचाया। राम के राज्य की यह डिमोक़ सी शास्त्रशुद्ध न भी हो, पर श्रात्मशुद्ध यदि है तो उसका श्रमीष्ट परिणाम श्रा ही जाने बाला है।

इसिलिए राजनीतिक कर्म के बीच गांधी जी ने आध्यात्मिक भाषा का प्रचलन किया। आदर्श को और सार को तंत्र में, प्रस्ताव में, अथवा योजना में नहीं, बल्कि चरित्र की पवित्रता और संकल्प की एका-अता, अर्थात् नैतिकता में देखना बताया।

स्पष्ट ही जनतंत्र का भविष्य ऋहिंसा के साथ है। लोकमानस में लौकिक मूल्य के रूप में जहाँ तक ऋहिंसा की प्रतिष्ठा है ठीक उसी हद तक जनतंत्र सफल हो सकता है। यदि साधन-शुद्धि का कुछ भी ध्यान नहीं है श्रीर सफलता ही एक साध्य है, तो जनतंत्र इस पद्धति से स्वयं श्रपना श्रंत बुला लेनेवाला है।

भारत गांधी का देश हैं। वह बुद्ध, महावीर श्रीर शंकर की भूमि है। उसने कबीर श्रीर नानफ उपजाये हैं। उसने राम श्रीर कृष्ण-जैसे भगवत्-पुरुषोत्तम सिरजे हैं। सम्राट के प्रताप के लिए नहीं श्रुपियों की बायी श्रीर संतों के उत्सर्ग के लिए दुनिया उसे मानतो है। जनतंत्र उसका प्रकृत श्रादर्श है। उसे सदा साधु मान्य रहा है, जो स्वेच्छा से स्वयं अकिंचन बना है श्रीर दीन दुसी का जिसने नारायण के समान घरण किया है। भारत का आत्म-प्रतिनिधि पुरुष दरिइनारायण को ही अपनी आराधना और सेवा देता है। जनसेवा और जनगौरव की निष्ठा को मूर्त करने वाला हमारा भारतीय जनतंत्र मानवता को उसी आदर्श में एकत्रित, जाइत और प्रहन्न बनादेगा—क्या यह विश्वास न रखा जाय !



# ध्येय नहीं, नित्य कर्तव्य

श्रापकी 'क्रांति' का पहला नम्बर मिला, जिसके लिए मैं श्राभारी हूँ। उसके पहले लेख में ये शब्द हैं— "जिसने इसका ( क्रांति का ) नतीजा जानना चाहा; इसे समक्षते की कोई कोशिश की, वह फिर कभी इसका नाम न लेगा।"

मैंने क्रांति का नतीजा जानना चाहा है श्रोर उसे समक्तने की कोशिश की है। श्रीर यह भी ठीक है कि मेरी राय हुई है कि उसका कभी नाम नहीं लेना चाहिए।

क्रांति से दरना उसे बुलाना है। मैं उसे बुलाना नहीं चाहता। इसिलाय उस से दरने की मेरे लिय कोई ज़रूरत नहीं रह जाती।

लेकिन यह सोचने की बात है कि क्रांति करने वालों को क्या उस अपनी क्रांति को बिना समके चूके करना होगा ? जो बे-समके की जायगी वह नादानी होगी। तो क्या नादानी को ही क्रांति कहना होगा ?

सच यह है कि 'क्रांति' शब्द को मस्ता नहीं बनाना चाहिए। धिसे पैसे की नाई उसका चलन चलाने से सच्ची क्रांति पास नहीं आती, दूर होती है। मूल्य घटता है। शब्द को लोग से उड़ते हैं, श्रास्लियत छूट जाती है।

श्रीर ऐसा हो रहा है। 'इन्किलाव ज़िन्दाबाद' का नारा ही कहयों

के लिए वस विखाई देता है। मुँह से वह इंक्रिलाय इस कदर खर्च होता है कि जीवन में गहरे अतरने के लिए उसको मौका ही नहीं मिलता।

श्रीर क्या मतलब कांति से १ कुछ गड़बड़, कुछ उलट-पलट, धींगाधींगी, श्रीर श्र की जगहं व का शासक वन जाना—क्या इस तरह की ही कुछ क्रांति है १ तो मैं कहता हूँ कि यह श्रीनष्ट है। वह प्रगति में बाधा है। वह प्रगति में बाधा है। वह मानव की हार श्रीर श्राव्यवस्था की विजय है।

इतिहास में घटनेवाली क्रांतियों को देखिए। क्या किसी ने कहीं स्वर्ग का उतार पाया ! क्रांति जब तक ध्येय श्रौर मिशन रही, दूर रही, तब तक उसमें शक्ति रही। तब तक उसमें से श्रादर्श की प्रोरणा प्राप्त की जा सकी। उसके घटित घटना होने पर देखा गया कि मंजिल अभी श्रागे है, श्रौर क्रांति प्रथम्ब-समन्न होकर भ्रम भर रह गई है।

इसलिए क्रांति शब्द सम्रा है, इसके आगे उपादेय भी हो सकता है, यदि वह कवि-भाषा में लिखा-पढ़ा और लिया जाता है। अन्यथा तो वह शब्द हमें दुस्तह बन जाना चाहिए, यह अम खतरनाक है कि उस शब्द में कोई वैज्ञानिक तथ्य भी हो सकता है।

श्राशय यह नहीं कि हमें प्रचलित (मानितक) मूल्यों में किसी मीलिक परिवर्तन की श्रावश्यकता नहीं है। श्राशय यह है कि इस प्रकार का मूल्यांतरी करण ही कांतिकी बास्तविकता है। उससे श्रलग श्रीर मिन्न कोई कांति कहीं नहीं है।

इससे क्रांति का श्रारम्भ अगर कहीं है तो अपने-अपने जीवन से है। श्रपनी निगाह को हमें बदल लेना है।

श्रीर मानव-जीवन की दृष्टि से कहें तो एक क्रांति है, जिसकी सदा से श्रावश्यकता थी, है, और रहेगी। वही स्थायी क्रांति। श्रीर यह यह कि इम शक्तिरुद्धीं न हीं, सेवा-भावी वर्ने । शासन-स्पृहा श्रसामाजि है, सेवा व्यक्तित्व की सामाजिकता (यथार्थ समाजवादिता) का प्रमास है

यह नहीं तो बढ़िया-से-बढ़िया समभी जाने वाली क्रांति पास आक छल साबित हो रहेगी!

इससे जरूरी है कि इम क्रांति का रोमांस न खोजें। रोमांस विस्को टक होता है। वह जिसको छुमाता है उसी को खाता है। श्रावश्यक है कि इम श्रपने जीवन के हर दिन श्रीर दिन की हर घड़ी क्रांति के यथार्थता पर श्रारूढ़ होते हुए चलें। क्रांति हमारे लिए नित्य कर्त्तव्य हो; इससे श्रलग कोई दूर का ध्येय नहीं।



### उपवास और लोकतन्त्र

गांथी जी उपवास पर हैं। नेता-सम्मेलन की माँग सामने आ चुकी है। वायस्याय का जवाब भी सामने आ गया है। सरकार को पूरा विश्वास है कि वह न्याय पर है। उसका विश्वास हस्तिए सकारण है कि गांधी जी के मित्र उनके पास पहुँच सकते हैं और चिकित्सा की भी पूरी व्यवस्था है। संसार उससे जान सकेगा कि सरकार गांधी जी के व्यक्तित्व के मित सहृदय है। पर न्याय निर्मम होता है और यह निर्ममता सरकार को मोलनी पड़ रही है, जबिक गांधी जी को छोड़ने में वह अपने को असमर्थ पा रही है। नेता-सम्मेलन को मिले इनकार को नेताओं का अपमान नहीं मानना चाहिये। उसकी कठिनाई भारी है, उसको हलका नहीं समक्तना चाहिये। यह तय है कि लिनलिथगो व्यक्ति रूप में गांधी जी के दुःख दर्द में शरीक रहना चाहते हैं। साथ ही यह भी साफ है कि गांधी जी, अपने साथियों का विरोध उठाकर भी, युद्ध प्रयत्नों में विध्व-वाधा न डालने की नीति को अपनाये रहे हैं।

इस पर भी संकट सिर पर है। मानों सन लाचार हैं। गांधी जी उपवास के कर्चा से श्रिषक उसके भोक्ता हैं। उनकी खोर से वह अयथा की पुकार है। इस बार तो उपवास सीधे किसी खास प्रयोजन से भी खुड़ा हुआ नहीं दीखता। दूसरी श्रोर वायसराय भी लाचार हैं। यह इस श्रातम-हत्या को कैसे शुभ समभा राजनीतिक पैतरेवाजी नहीं, तो यह उनके लिए श्रीर क्या चीज हो सकती है १ व्यक्ति की स्वच्छन्दता की रखा करके सरकार भला कैसे चल सकती है ! इससे लिनलिथगो भी अपने बंदी-मित्र की रिहाई का हुकम निकालने में असमर्थ हैं।

सरकार की राय में गांधी जी का उपवास अनुचित दवाव है, राजनी-तिक ठगी है। तो क्या वह ऐसा नैतिक अपराध नहीं है, जिसे न्यायालय अपने हाथ में ले श्रियातम-हत्या पाप है। जेल में भूख-इडताल गुनाह है। उसके लिए सजाएँ भी मिला करती हैं। न्याय के नियम-पालन में व्यक्तिगत भावनाश्रों से ऊपर उठना होता है। तब क्या बात है कि गांधी जी को न केवल इन अपराधों के लिए अदालत में नहीं लाया जाता; बल्कि विशिष्ठ व्यक्ति के तौर पर उनको विशेष सुविधाय दी जाती हैं?

इसके दो परिणाम निकल सकते हैं: या तो वायसराय और उनके प्रतिनिधि व्यक्तिगत भावनाश्चों से प्रभावित होकर चलते हैं और अपने कर्त्तव्य-पालन में यथावश्यक निर्भय नहीं हैं। नहीं तो दूसरा परिणाम यह है कि जो श्चारोप बाहर से गांधी जी पर लगाये जाते हैं, भीतर से सरकार ही उन्हें पूरी तरह नहीं मानती। बुद्धि जब एक बात कहती है, तब शायद उनका हृदय ही उन्हें बता रहा होता है कि गांधी जी का उपवास शायद ठगी, हथकरड़ा, मौके से लाभ उठाना नहीं है। शायद गांधी जी के शब्द जो कहते हैं, असल बात भी वही है।

गाँधी जी का जीवन खुली किताब है। श्रारम्म से वह जीवन सार्व-जितक है। उनके श्रन्दर-बाहर का सब कुछ सार्वजितक सम्पत्ति है। दुनिया उसे देखती श्रीर परखती रही है। इसलिए मतमेद श्रीर मत-प्रचार के बावजूद गांधी जी को गलत समकता या समकाना श्राज सुश्किल काम हो गया है। गांधी जी की श्रालम का स्पर्श जितना श्राज दुनिया पर फैला है श्रीर मीतर गया है, वैसा शायद किसी दूसरे जीवित व्यक्ति का नहीं। उस छाप में एक बात सामान्य है। वह यह कि गांधी जी श्रपनी बात के खरे हैं। उनके शब्दों में वही है, जो उनके मन में हैं। यह बात इतनी श्रामिट होकर लोगों के श्रन्तःकरण पर छुप गई है कि उनकी 'शा में सन्देह करना बहुत साहस का ही काम हो सकता है। गांधी जी की ब्रिटेन के साथ जब भी बात चली है, उसमें दो टेक साफ उभार में दीखती रही हैं: एक यह कि मैं ब्रिटेन का मित्र हूँ छोर दूसरी यह कि सत्य एवं श्रद्धिया के लिए मेरा जीकन है। कोई श्रवसर नहीं हुआ जब श्रमली तौर पर गांधीजी ने इसका प्रमाण नहीं दिया। गुप्तता श्रीर पड्यन्त्र का कभी उन्होंने सहारा नहीं लिया। हिंसा के मुँह में सदा श्रपने को भोंकने की तत्परता दिखाई। पचपन वर्ष के ऐसे खुले सार्व-जीनक जीवन की नींच पर उन्होंने वायसराय को लिखा कि हिंसा से मुभे दु:ख है, मैं श्रीर मेरी सलाह हिंसा के पच्च में न थी, न श्रव है श्रीर न होगी। श्रपने दु:ख को मैं कहां ले जाऊँ ? श्रापके पास श्राता हूँ, तो हमारे बीच में श्रविश्वास का सागर फैला मालूम होता है। दु:ख मेरा बढ़ता जाता है। श्रव तो प्रमु के चरणों में ही श्रपना रोना रोने का उपाय मेरे लिए रह गया दीखता है।

वायसराय ने कहा कि तुरहारी बात तो मैं तब सुनूँ जब कि मेरे पास प्रमारा न हों | सब्त मजब्त है और तुम्हारे ज्ञान में, अगर इशारे पर नहीं, कींग्रेस ने हिंसा का जाल रचा था | मेरी सरकार की ओर से गिर-प्रतारियाँ हुई, उसके बाद की तो कथा ही न पूछो | पर हिंसा तो कांग्रेस के इरादे में पहले ही आ सुकी थी |

गांधी जी ने कहा कि ऐसा है, तो मुक्ते बताओ, मैं प्रायश्चित करूँगा। हर हालत में दुःख तो मुक्ते बेहद है श्रीर उपवास में ही मुक्ते सान्त्वना मिलेगी।

. तब से उपवास शुरू है श्रीर उसकी गहरी प्रतिक्रिया देखने में श्राती है। वेशक उपवास गांधी जी श्रीर उनके प्रभु के बीच श्रमबन श्रीर प्रार्थना का विश्य है। श्रपने प्रभु से ही उनका दावा है श्रीर उन्हीं के प्रति निवेदन है। इस दृष्टि से वेशक सरकार को चाहिये कि उस पर विचार न करे श्रीर जिसको श्रपना कर्तां क्य माने, उस पर कायम रहे। पर जीवन तो विभक्त नहीं हैं श्रीर न व्यक्ति तथा समाज दो हैं। श्राज

१६४३ में तो इस म्रालहदगी की वात म्रोर भी नहीं की जा सकती। राष्ट्र तक एक-दूसरे से ऋलग नहीं हैं, सब गहरी व्यथा में एक दूसरे में समाये हैं। न गाँधी जी वह हैं जिनका प्रसु इस जगत् से वाहर हो। नर में उन्होंने नारायण का देखा है। उपवास भी उसी प्रमु के प्रति ग्रात्म-निवेदन है, जो जन-जन के अन्तर्यामी है। इसी से उपवास गाँधी जी का प्रश्न जितना है, उससे कहीं श्रिधिक वह जगतु का प्रश्न बन गया है। गांधी जी, या कोई, इच्छा करके भी अन्तर्राष्ट्रीय महत्त्व से उस को नीने नहीं ला सकता । हिन्दुस्तान ऋगज दिन ब्रिटेन की सम्पति ही नहीं रह गया है। इस लड़ाई में हिन्दुतान गहरा मोर्चा है। उसकी स्थित में हेर-फेर युद्ध के नक्शे को बदल सकता है। ब्रिटेन में श्रमरीका की दिल-चस्मी है श्रीर जिसमें उन दोनों की दिलचस्मी है, वह बात चीन श्रीर रूस के भाग्य से सीधी सम्बन्ध रखती है। इस तरह हिन्दुस्तान हिन्दुस्ता-नियों का हो, या है,-यह सवाल ऋपेनाकृत पीछे पह गया है। लड़ाई कीती जाय, यही सवाल इतना पहला बन गया है कि भारत की ख्रीर सभी राष्ट्रीय बातों श्रोर माँगों को उसी एक श्रपेचा में देखना जरूरी हो गया है। इसी से ब्राज सब ब्रोर लाचारी है। गाँधी जी की ब्रापने लिए उपवास श्रीर सरकार को उनके लिये जेल ही उपाय मालूम होता है।

बेशक राष्ट्रीयता के दायरे में संकट का समाधान नहीं मिलेगा। पर प्रश्न है कि युद्ध द्वारा मित्र राष्ट्र क्या चाहते हैं ! क्या वे न्याय की प्रतिष्ठा नहीं चाहते हैं ! क्या श्रतलान्तिक चार्टर के पीछे की मनोभावना को हम भूठ कहें ! क्या मित्र-राष्ट्रों के राष्ट्रनायकों की बातों के बारे में हम न मानें कि वे गहरे विश्वास श्रोर ईमानदारी के साथ कही गयी हैं ! यदि यह सच है, तो क्या सचमुच माना जाता है कि न्याय श्रीर साम्य के श्राधार पर होनेवाले नव-निर्माण के लिए गांधी को श्रपनी बात न कहने देना जरूरी है ! श्रन्तर्राष्ट्रीय चेत्र में श्राज शक्ति के हाथ निर्णय है । हमारे पास कोई श्रन्तर्राष्ट्रीय संघ ऐसा नहीं है, जिसमें दम हों श्रोर न्यायनिष्ठा हो । तब हारने पर जर्मनी के लोंगों को मानने से कैसे रोका जा सकेगा,

या इतिहास को ही इस प्रतिपादन से कैसे बन्ताया जा सकेगा, कि शस्त्रीत्पादन की गित मित्रपट्टों के मुकाबले धीमी पड़ जाने से ही उनकी हार हुई। विजय न्याय की होनी है तो क्या वह मन द्वारा ही नहीं होगी! लांकत त्रों की शक्ति क्या हार्दिक लोकमत का बल ही नहीं है! क्या 'लोकतन्त्र' शब्द में ही गर्मित नहीं है कि शक्ति स्त्रौर न्याय का श्राधिप्ठान लोक सामान्य में. है! यदि ऐसा है, तां नागरिक मर्यादा की रज्ञा करते हुए वाक्-स्वातंत्र्य किसी भी न्याय्य भावी निर्माण के लिए क्या पहली शर्त नहीं टहरती!

श्रागे का किसी को पता नहीं। श्रापनी पद्धति ईश्वर ही जानता है। पर इम अपनी सफाई से आज शुरू कर सकते हैं। इस आत्म-मंथन का राष्ट्रनायकों में प्रारम्भ हो, तो उपवास भी लाभप्रद वन सकता है। सच यह है कि श्राज भी सरकार के शब्द श्रोर व्यवहार में मेल नहीं है। शब्द कठार हैं श्रीर गांधी जी को न छोड़ सकने की लाचारी को हम समभ्त. सकें. तो बाकी सब ६ प्रियों से सरकार का व्यवहार मुलायम है। इसी में सदभाव के बीज देखे जा सकते हैं। उन्हीं को उपवास की व्यथा का सिंचन मिले, तो आज भी ब्रिटेन और भारत में राष्ट्रीय सद्भाव लहलहा सकता है। यदि गांधी जी नहीं, तो उस सदमाव के बीज को अपनी श्रातमा से सींचनेवाला दूसरा कोई व्यक्ति नहीं मिलेगा । गांधी जी के श्रमाव में फिर क्या रह जायगा, जो श्रविश्वास श्रीर कटुता की लहरीं को अपने ऊपर ले और भीतर भोलकर प्रीति में बदल दे। गाँधी जी त्याज वह हृदय हैं, जो राष्ट्र भावना के रक्त में से मैल को साफ करके फिर शुद्ध रक्त को राष्ट्र की नाड़ियों में बहुने को देते रहते हैं। कस-श्रिधिक पिछली श्राधी सदी का इतिहास बताता है कि हिंसा की शक्तियाँ यदि खला श्रनर्थ नहीं कर पायीं हैं श्रीर निरन्तर विधायक रूप में उनका परिग्रामन होता रहा है, तो वह एक व्यक्ति गांधी के कारण !

विश्ववन्धुत्व के स्वप्न का नहीं, योजना का रामय श्रव श्रा रहा है । क्या सन्तमुन्त्र गांधी जी को खोकर वह जल्दी लाया जा सकता है रें :

### निरातंकवाद

हिंसा-श्रहिंसा की चर्चा श्रय पहले जितनी सरती नहीं है, यह श्रच्छा ही है। यह नहीं कि वह प्रश्न श्राज कम महत्वपूर्ण है। प्रश्न का महत्व तो दिन-दिन बढ़ता ही जा रहा है। संकट जितना घोर पढ़ रहा है, श्रहिंगा उतनी ही श्रानिवार्य हो रही है। तय है कि उसके बिना श्राण नहीं। उसके सिवा जगत के लिए दूसरी गित नहीं। साम्यवाद (कम्यूनिज्म) में से मोल श्रायगा, यह सपना टूट चुका है। उस 'वाद' के नीचे बुद्धि का प्रमाद दीख श्रायग है। पूंजीवाद, जो गनुष्य को पूरी तरह राज्य के नियंत्रण में करने की जगह उसकी हत्तेचों को बहुत कुछ श्राजाद रहने देने के कारण पनग था, व्याधियों की सृष्टि ही कर सका है। व्याधियों वा हलाज उस पद्धित में से नहीं निकलने वाला है। पूंजीवाद जनतंत्र के नाम पर जनवाद की दुहाई देता है; साम्यवाद श्रानी तरह के जनवाद की मार्पत श्रिधना-यकाधीन तंत्र का शिकंजा जमा चलता है। इन दोनों वादों में से मनुष्य को दारस नहीं मिल रहा, हर मिल रहा है। वोनों ही सामान्य मनुष्य को श्रातंकवादी जान पड़ते हैं। संख्या के श्रीर दल-बेल के जोर से वे श्रपनी गति चलाते देखे जाते हैं।

तुनिया के श्रांशांके में खूटे हुए बाद ये वो ही हैं। शेप शायद धार्मिक हैं, कार्मिक महीं हैं। यामी, शक्ति की भूमिका पर वे नगर्य हैं। गर्यानीय जो दो हैं वे दोनों श्रालंक पर चढकर ऊ चे उठ श्रोर फैल रहे हैं। निश्चय ही उन दोनों में से किसी के हाथ दुनिया का भविष्य नहीं हो नकता । ऋतिक में से कोई छोटा भी निर्माण नहीं हुआ है, मानव जाति के भविष्य का निर्माण तो बड़ी बात है।

श्रतः चाहिए एक मौलिक निरातंकवाद । ऐसा वाद श्रादर्श श्रीर धर्म के लेश में तो बहुधा मिलता है। लेकिन वह बेकाम है। शक्ति जिसमें नहीं उसका श्रातंक हो भी तो क्या ! इससे उसके निरातंक होने में कोई लाम भी नहीं है । निरातंक की घोपणा शक्ति में से श्रानी चाहिए। जिससे भय हो सकता है बही वास्तव में श्राभय दे सकता है।

श्रभय देने वाला भी शक्ति का एक प्रकार है, इसके उदाहरण गांधी हो गये हैं। गांधी जी की अधीनता में भारतीय राष्ट्रीयता ने जय श्रंग्रेज से लड़ाई छेड़ी तो श्रंग्रेज को मय सता श्राया था। मगर गांधी ने गदा उसे श्रभय दिया। श्रंग्रेज दुश्मन हो सकता था, क्योंकि वह भूल से श्रमन श्रंदर की इंसानियत का दुश्मन वन बैठा था। लेकिन दुश्मन है इस्तिल्य श्रीर भी मेरे जीते जी उसका वाल बांका नहीं हो सकता—यह सील गांधी का रहा। चौरीचौरा में विद्धेष ने जो तनिक उटकर इक्का-दुक्का श्रंग्रेज का रक्त लिया तो उस पर गांधी ने श्रपने सारे श्रांदोलन की ही लगाम खींच दी श्रीर उसके लिए प्रायश्चित किया।

यानी जैसे-जैसे फीज, उनका खर्च, उनके लिए शकास्त्र की तैयारी श्रीर इन सब कार्रवाइयों का विश्वास बढ़ता जाता है, वैसे ही वैसे श्राहिंसा की पाने श्रीर पहचानने की दुनिवारता भी बढ़ती जाती है। श्रहिंसा चलती नीति के तौर पर नहीं, बुनियादी मूल्य के तौर पर । देश के, राज्य के, श्रपने श्रीर श्रपने कुशलं-देम के लिए श्रहिंसा नहीं; बल्कि श्रहिंसा के लिए देश श्रीर राज्य, श्रहिंसा के लिए इम, हमारा स्वास्थ्य, जीवन श्रीर इमरी मृत्य ।

यह अमोमता अहिंसा को मिलाने वाली है। फिर भी श्रहिंसा की चर्चा का कम होना शुभ ही है। कारण, चर्चा उड़ती अधिक है, करती कम है। मानो श्रिहिंसा सिद्धान्तसूत्रों का बुना हुन्ना कोई खिलीना हो जिससे खेलकर मन वहला लिया जाय। या गोरखधन्धा हो जिसके 'सहारे फ़रसत कट जाय। जैसे वह ग्राग न हो जो हमें जलाकर राख कर दे, या तो फिर तपा कर कन्दन ही करदे।

श्रभी एक जैनी भाई ने श्रापत्ति की कि श्रहिंसा की बात वह नहीं कर सकता है जो मांस खाता है।

में उस श्रिहंसा को नहीं जानता जो शाकाहारियों तक गिमटी है। ऐसी श्रिहंसा तो सिमटती जाकर एक दिन सिफर हो जायगी। केवल परम धर्म के रूप में श्रिहंसा को मैं देख पाता हूं। धर्म परम वह जो सब कहीं है, जिससे छुटकारा किसी को भी नहीं। श्रवतक के हतिहास की तमाम प्रगति को वही धर्म धारण करता है। श्रागे का विकास भी उसीमें से बनेगा। हम उससे श्रमजान रह सकते हैं; पर जब भी हम जानेंगे उसी को बानेंगे। यानी एक न एक दिन हमें उसे पहचानना ही है। तभी हमारी श्रांखें खुली कही जायंगी।

श्राज भी मैं नहीं जानता कैसे माना जा सकता है कि कोई सिर्फ मारता है। इर कोई अपने जीने के लिए दूसरे की मारता दीखता है। शेर मारता है तो भूख से या डर से। वह अपने का रखना श्रीर बचाना चाहता है। कसाई मांस की दुकान श्रपना कुनवा पालने के लिए करता है। शिकारी शिकार के समय जिन्दगी का, यानी जोखम उठाने का, स्याद पा रहा होता है। वह रबाद शिकार का श्रानन्द है, न कि प्राणी की जान लेना। हिटलर ने जर्मनी को जिन्दा रखने श्रोर करने की कोशिश में युद्ध छेड़ा। जापान के लिए भी श्रात्म-रचा का सवाल श्रा बना था। कोरिया का उत्तर दिच्चिण पर श्रपने बचाव के लिए ही चढ़ दौड़ा। उत्तर पर श्रव दिच्चिण की श्रोर से जो चढ़ाई है वह भी कोरिया की श्रात्मरचा में। कत कभी यदि युद्ध में पड़ेगा तो श्रपने बचाव के लातिर। श्रश्चिम चलेगा तो तभी जब श्रपनी जान पर श्रा बनती दीखेगी। वह बम पहले भी काम श्रामा है। लेकिन कीन कह सकता है कि लड़ाई को उसने जल्दी ख़त्म

नहीं किया, या कि उसका प्रयोग तय नहीं हुन्ना जब कि स्त्रमरीका को स्त्रपने बचाध का दूसरा उपाय स्फना बन्द हो गया था ?

यह फूठ है कि कोई पहले मारता है । हर कोई पहले बचता श्रीर बचाता है। सदा पहले श्रपने को चाहा जाता है, दूसरा हमेशा दूसरे नम्बर पर श्राता है। यानी दुनिया में ऐसा कोई नहीं है, जो मारने के लिए जीता हो। हर कोई श्रपने जीने की राह में दूसरे को मारता है।

दुनिया में सब हिंसा बचाव की हिंसा है। ग्राक्रमण की हिंसा में गहरे जाकर देखें तो पता चलेगा कि वहां भी ग्रपनापन ही मुख्य है, दूसरे को सताना मुख्य नहीं है। स्वत्वभाव की रज्ञा या प्रतिष्ठा की कल्पना में से ही पर-हत्या की, यानी ग्राक्रमण की, तैयारी ग्राती है।

इसलिए प्रश्न यह है ही नहीं कि मारना ग्रन्छ। है या बुरा ? कोई नहीं है जो मारने को ग्रन्छ। कहता हो । इस रूप में हिंसा-ग्रहिंसा के प्रश्न को लेना ही गलत है ।

द्र्यर्शत्, प्रश्न यह है कि अपने जीने के लिए भी दूसरे को मारना क्या 'श्र-छा' हो सकता है ?

इसके उत्तर में भी दुविधा की गुजायश नहीं है। श्रपने जीने के लिए भी मारना 'श्रव्जा' तो नहीं कहा जा समता।

तव क्या वह आवश्यक है ? उपयोगी है ?

बाहर की श्रोर से उसकी श्रावश्यकता श्रोर उपयोगिता कभी सिद्ध नहीं हुई है। हत्या से कभी बदला पूरा नहीं हुआ है श्रीर युद्ध सब युद्ध की निरर्थकता को ही साबित करने वाले बने हैं।

फिर भी आवश्यक है। कारण, हिंसा बिना जीवन चलता जो नहीं है। सांस लेने तक में घात है। यानी, वह आवश्यकता असमर्थता की है, अअद्या की है। दूसरे शब्दों में, कमजोर ही हिंसक होता है।

इसमें से सिद्धान्त निकला कि हिंसा सहा है, श्राहिंसा साध्य । हिंसा कितनी भी अनिवार्य हो, नियम सदा श्राहिंसा है। श्राहिंसा ही प्रवल है, हिंसा निर्वलता है। हिंसा सदा डर में से है, श्राहिंसा ही निडर हैं। निबरता की नीति का श्रारम्भ मनुष्य जाति से पहले नहीं है। इससे जंगल का कानून हिंसा श्रीर समाज का नियम श्राहिंसा है।

श्रमुक हद से श्रागे श्रहिंसा श्रशक्य बनती श्रीर हिंसा श्रपरिहार्य रहती हो तो यह एक बात है। विकास-कम में यह स्थित ता सदा ही रहने वाली है। पर तत्य-दर्शन से हिंसा का समर्थन निकाल कर बाकायदा उसकी तैयारी में लग जाना विल्कुल दूसरी बात है।

यह दूसरे प्रकार की तीर-तैयारी के साथ की जाने वाली हिंसा मान-वता के लिए लज्जा को चीज होनी चाहिए । पर वह उलटे गोरव की वात बनी हुई है—यह हमारी आज की मानव सम्यता की विडम्बना है। हमारे ज्ञान-विज्ञान ओर संस्कृति-सभ्यता पर यह तीखा प्रश्न है। हमारी सारी विच्चार-पद्धति की ही यह एक आलोचना है।

यह कारा वहम है कि मारने से जीने के मान में कुछ लाभ हो सकता है। द्यांखों से, अनुमान से या कल्पना से दीखने वाला ऐसा लाभ मिथ्या दर्शन और प्रमत्त दृष्टि की सृष्टि है। वह निश्चि मरीचिका है। निश्चिम ही वह प्रतीत होने वाला लाभ प्रतीति से बाहर पड़कर कोरा धूल्य निकल आने वाला है।

श्रव एक उससे बिलकुल उलटी जीवन-नीति हैं । वह श्रहिंसा की है । उसमें श्रपने बचाव की बात सोच ने की जगह ही नहीं है । उसमें श्रपने को देने की तत्परता है । उसे श्रात्मिक कहो, नैतिक कहा, या कुछ कहो । उसमें जीने के लिए मारने के बोखें को जगह नहीं है । उसमें श्रक्त के सामने इट कर स्थयं मर तक जाने की तैयारी की बात है । तिश्चय इसमें गहरी निर्मयता श्रीर ऊंचे पराक्रम की श्रावश्यकता है । स्पष्ट ही इस नीति में श्रिक सम्भावना है । भविष्य नहीं खड़ा हो सकता उस पर जो मूल में तृष्यार्त श्रीर परियाम में व्यर्थ है । मजबूती के साथ उस भविष्य की बुनियाद को बांधना होगा उस श्राहिंसक नीति पर कि जिसकी जह अद्धा में है श्रीर परियाम जिसका श्रमोद्य स्थार चिरन्तन है ।